अनौपचारिक शिक्षा

कुछ पहलू

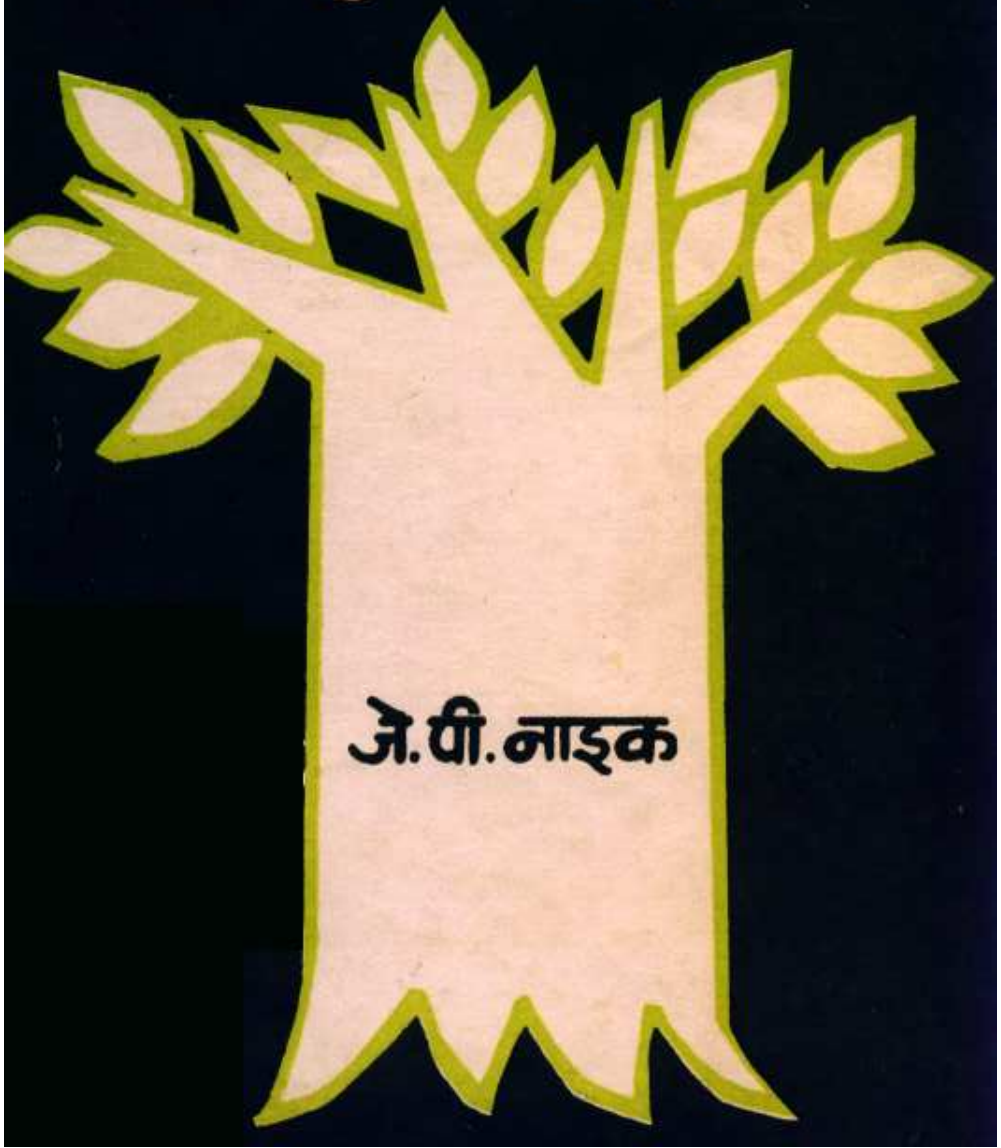

जे. पी. नाइक

अनौपचारिक शिक्षा : कुछ पहलू

अनौपचारिक शिक्षा
कुछ पहलू

जे. पी. नाइक

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति, जयपुर

अनौपचारिक-शिक्षा : कुछ पहलू

© राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति, जयपुर

मूल लेखक : जे. पी. नाइक

अनुवाद : गिरधर राठी

प्रथम संस्करण : 1978

द्वितीय संस्करण : 1989

प्रकाशन : राज्य संदर्भ केंद्र

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति,
7-ए, झालाना संस्थान क्षेत्र,
जयपुर-302004

मूल्य : रु० 25.00

मुद्रक : शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032

ANAUPCHARIK SHIKSHA : KUCHH PAHLOO by J P. Naik

प्रकाशक की बात

प्रौढ़-शिक्षा संबंधी नयी संकल्पनाओं का सतत प्रसार समिति का पहला सरोकार था। विचारों के प्रचार-प्रसार का काम समिति ने सम्मेलन तथा गोष्ठियां आयोजित करके भी किया तथा साहित्य प्रकाशित करके भी। पिछले दिनों केंद्र सरकार के सहयोग से समिति ने अनौपचारिक-शिक्षा का **राज्य संदर्भ केंद्र** स्थापित किया तो इस कार्य में और भी गति आयी। **संदर्भ केंद्र** के प्रकाशन कार्यक्रम के अंतर्गत समिति सबसे पहले **अनौपचारिक-शिक्षा के आयाम : संपादन—चतरसिंह मेहता** तथा **अनौपचारिक-शिक्षा और विकास : संपादन—नंदकिशोर आचार्य** जैसी प्रासंगिक पुस्तकों का प्रकाशन आयोजित किया।

श्री जे. पी. नाइक की पुस्तक **सम पर्सपेक्टिव्ज इन नॉन-फॉर्मल एज्यूकेशन** की महत्ता तथा आवश्यकता असंदिग्ध थी इसलिए हमने नाइक साहब से इसके अनुवाद के लिए संपर्क किया। हमें गर्व है और यह नाइक साहब का स्नेह है कि हमें इसके अनुवाद की तथा प्रकाशन की अनुमति मिली।

राष्ट्रीय प्रौढ़-शिक्षा कार्यक्रम के संदर्भ में इस पुस्तक का प्रकाशन अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा यह हमारा विश्वास है।

—ललित किशोर

लेखक की बात

इस पुस्तक में उन विचारों को थोड़ा विस्तार से प्रस्तुत किया गया है जो मैंने 'ज़ाकिर हुसैन स्मृति व्याख्यान' मैसूर में भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ के अधिवेशन में 16 अक्तूबर, 1976 को व्यक्त किये थे। यह पुस्तक उन मित्रों के कहने से लिखी और प्रकाशित की गयी है जिनका यह विश्वास है कि यह अनौपचारिक-शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के लिए उपयोगी साबित होगी।

यह पुस्तक अनौपचारिक-शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर श्री अशर डेलियन, डॉ. चित्रा नाइक, तथा श्री अनिल बोर्दिया के साथ हुई लंबी मुलाकातों का परिणाम है। मैं उनके अमूल्य सुझावों के लिये उनके प्रति आभार व्यक्त करना चाहूंगा। लेकिन फिर भी यह बात स्पष्ट है कि इस पुस्तक में व्यक्त किये गये विचारों के प्रति सारा दायित्व मेरा अपना है।

श्री व श्रीमती एस. राधाकृष्णन का आभारी हूं जिन्होंने इस पुस्तक की पांडुलिपि के संपादन तथा प्रकाशन में सहयोग दिया। मैं भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ, नयी दिल्ली तथा राजनीतिक एवं सामाजिक अध्ययन अकादमी, पुणे को भी धन्यवाद देना चाहूंगा जिन्होंने अपने तत्वावधान में दिये गये व्याख्यानों का यहां उपयोग करने की अनुमति दी।

मेरी यह पुस्तक अब हिंदी में अनूदित होकर एक व्यापक पाठक समुदाय तक पहुंचेगी यह जानकर मुझे और भी अधिक प्रसन्नता है। इसका हिंदी अनुवाद प्रकाशित करने की पहल राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति ने की। इसके लिए मैं इस संस्था के आयोजकों को बधाई देना चाहूंगा।

पाठकों से मैं अपेक्षा करूंगा कि वे इस पुस्तक में व्यक्त किये गये विचारों पर अपनी प्रतिक्रिया से मुझे अवगत करायें तथा शैक्षिक समाज में अनौपचारिक-शिक्षा संबंधी विचार-चिंतन को और आगे बढ़ायें। संभव है पाठकों की प्रतिक्रियाएं मुझे इस पुस्तक को और भी अधिक परिष्कृत करने में सहयोग दे सकें।

जे. पी. नाइक
नयी दिल्ली
दिनांक : 24 मार्च, 1978

क्रम

1. कुछ आरम्भिक प्रश्न	1
2. अवधारणा, पद्धतियां और स्थान	21
3. कार्यक्रम, संगठन और क्रियान्वयन	44
4. शिक्षा में राजनीतिक विषय-वस्तु	70
5 स्कूल-पूर्व बच्चों के लिए अनौपचारिक-शिक्षा	83
6. कार्यात्मक (फंक्शनल) प्राथमिक स्कूल	86
7. स्कूल के बाहर युवजनों की अनौपचारिक-शिक्षा	99

पहला अध्याय

कुछ प्रारम्भिक प्रश्न

इस पुस्तक के प्रकाशन के बारे में शायद कोई सफाई देना जरूरी नहीं है।

भारतीय शिक्षा-जगत में नये मेहमानों की आवाजाही आम बात है और उसी क्रम में अनौपचारिक-शिक्षा सबसे नया मेहमान है। जैसा कि हर 'नये' मेहमान के साथ होता है, इसका भी पंचमेल स्वागत हुआ है और विभिन्न समुदायों और व्यक्तियों ने इसके विभिन्न अर्थ लगाये हैं। लिहाजा भारतीय परिस्थितियों में अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों पर विभिन्न सदर्शों का यथासंभव सर्वांगीण निरूपण लाभदायक ही होगा। इससे बुनियादी कल्पनाओं, अवधारणाओं, कार्यक्रमों, संगठन, संभावनाओं और सीमाओं को स्पष्ट करने में मदद मिलेगी।

इस अध्याय में प्रारंभिक किस्म के इन चार प्रश्नों पर विचार किया जाएगा : (1) अनौपचारिक-शिक्षा क्या है? (2) भारत में इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या है? (3) इन दिनों अनौपचारिक-शिक्षा में इतनी गहरी और विश्वव्यापी रुचि का क्या कारण है? और (4) अनौपचारिक-शिक्षा के बारे में जाग्रत नयी अभिरुचि का सर्वोत्तम उपयोग हम किस प्रकार कर सकते हैं?

अनौपचारिक-शिक्षा क्या है? : एक परिभाषा

विद्या (या शिक्षा) स्कूली पढ़ाई का समतुल्य है, यह ग़लतफ़हमी आम तौर पर पायी जाती है। यह सही है कि स्कूल एक सामाजिक संस्था है, जिसका गठन लोगों को शिक्षा देने या अध्ययन में मदद करने के खास उद्देश्य से ही किया जाता है। यह भी सही है कि स्कूल में कुछ महत्वपूर्ण पढ़ाई होती है और यह भी सही है कि कुछ विशेष प्रकार की शिक्षा अन्य किसी भी संस्था की अपेक्षा स्कूल ही अच्छी तरह करा सकता है। पर यह सही नहीं है कि सारी शिक्षा केवल स्कूल में ही मिलती है या कि स्कूल के बाहर कोई महत्वपूर्ण शिक्षा होती ही नहीं है। वस्तुतः अधिकांश लोगों के अध्ययन या शिक्षण का अधिकांश भाग, तथा उसमें भी कुछ सबसे महत्वपूर्ण भाग स्कूल के बाहर ही पूरा होता है। इसलिए इस तथ्य को उभारना आवश्यक है कि आकस्मिक, अनौपचारिक और औपचारिक—इन तीन माध्यमों से अर्जित होने वाली शिक्षा के लिए स्कूल ही एकमात्र स्रोत या

संस्था हो, ऐसा नहीं है।

(1) **आकस्मिक-शिक्षा** : व्यक्ति जिस परिवेश में जीता है या बढ़ता है उसमें से वह कुछ न कुछ ग्रहण करता चलता है। जीने की इस प्रक्रिया में अपने आप जो शिक्षण होता है वही आकस्मिक-शिक्षा है। उदाहरण के लिए, बच्चा अपने शैशव में ही अपने शरीर पर नियंत्रण तथा उसका उपयोग, अपनी मातृभाषा और निवास स्थान की भाषा (या कई भाषाएं) और बच्चे से अपेक्षित शिष्टाचार (यह करो, वह न करो) सीख लेता है। अपने परिवार या समुदाय की पारंपरिक संस्कृति के बुनियादी तत्व भी वह आत्मसात कर लेता है। बच्चे के बढ़ने के साथ-साथ यह आकस्मिक-शिक्षण भी बढ़ता चलता है। युवक और वयस्क के रूप में वह अपनी पहचान, परिपक्वता और वयस्कता, प्रेम और सेक्स, विवाह तथा पितृत्व के आनन्द, अवसाद एवं दायित्व, नागरिक के कर्तव्य एवं दायित्व जैसी कई बातों को सीखता और अनुभव करता है। अपने परिवार से तथा पारिवारिक जीवन की घटनाओं से, अपने सामाजिक समुदाय से, अपनी मित्र मण्डली से, अपनी जीविका से जुड़े काम और अपने सहयोगियों से सीखता चलता है। इस तरह आकस्मिक-शिक्षा मानव-जाति जितनी ही पुरानी है, तथा **सार्वभौम** और **आजीवन** भी, और, किसी भी शिक्षा से जो-जो अपेक्षाएँ होती हैं वे सब इससे अर्जित होती हैं, यथा, (1) सूचना, ज्ञान और विवेक, (2) कुछ तरह के हुनर जिनमें से कुछेक तो (औपचारिक या अनौपचारिक) प्रशिक्षण के द्वारा भी नहीं सिखाये जा सकते, और (3) (नैतिक) मूल्य। मूल्य-स्थापना में यह शिक्षा-प्रक्रिया अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशील होती है। यह भी स्पष्ट है कि आकस्मिक शिक्षा का प्रकार, स्तर और गुणवत्ता मूलतः उस परिवेश पर निर्भर है जिसमें व्यक्ति बड़ा होता है और जिसमें से उसे वह आत्मसात करता है। उदाहरण के लिए, ओड़िसा के जंगलों में किसी आदिम जनजाति में पला हुआ बालक जो आकस्मिक-शिक्षा पायेगा वह नयी दिल्ली में किसी वरिष्ठ सरकारी अधिकारी के बालक से स्पष्टतः भिन्न होगी।

(2) **अनौपचारिक-शिक्षा** : ज्यों-ज्यों ज्ञान का भंडार बढ़ा और मानव समाजों के संचालन तथा विकास के लिए विशेष दक्षताएं अनिवार्य होने लगीं, आकस्मिक-शिक्षा जो कि सभ्यता के उदय-काल के आदिम समाजों में मनुष्य को सुलभ एकमात्र शिक्षा थी, अपर्याप्त हो गयी। इसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की अनौपचारिक-शिक्षा का विकास हुआ, जिसका समायोजन स्वयं समाज करता था और जो स्वयंमेव या आकस्मिक शिक्षा के पूरक के रूप में काम आती थी। उदाहरणार्थ, जब पुरुषों और स्त्रियों, की भूमिकाएं बंट गयीं तथा निश्चित हो गयीं, पुरुषों ने अपने पिता, बड़े भाई या अन्य विशेष लोगों की शिष्यता करके रोजी-रोटी कमाना सीखा (कारीगर, किसान, शिकारी या सैनिक इत्यादि के

रूप में), और स्त्रियों ने अपनी मां, बड़ी बहन या अन्य स्त्रियों से घर-बार संभालने और बच्चों के पालन-पोषण के हुनर सीखे। जब युद्ध एक विशेष कला बन गयी, तब नौजवानों को लड़ाई की शिक्षा देने के लिए नयी सामाजिक संस्थाएं विकसित हुईं। न केवल आकस्मिक-शिक्षण के जरिये, बल्कि मंदिर, मस्जिद और गिरजाघरों के इर्दगिर्द निर्मित, बल्कि लोक नाट्य, नृत्य और संगीत जैसी धर्मेतर या धर्मनिरपेक्ष संस्थाओं के अनौपचारिक-शिक्षण के माध्यम से लोगों को धर्म और संस्कृति का संदेश दिया गया। कहावतों, किस्सों, या गीतों जैसे अलिखित साहित्य ने भी जो मौखिक रूप से एक दूसरे तक पहुंचता है, इसमें एक भूमिका निभायी। ज्यों-ज्यों समाज अधिक जटिल और आधुनिक होते गये, उन्होंने शिक्षण की औपचारिक प्रणालियां विकसित कीं। पर यह याद रखना चाहिए कि अनौपचारिक-शिक्षण के ये साधन औपचारिक-शिक्षण के उदय होते ही लुप्त नहीं हो गये। इसके विपरीत, वे विकासमान रहे और परिवर्तनशील स्थितियों के अनुरूप अनौपचारिक-शिक्षण के नये-नये कार्यक्रम या संस्थाएं (यथा पुस्तकालय, संग्रहालय, प्रेस, रेडियो और टेलीविजन) निर्मित तथा विकसित होती गयीं। अस्तु; वर्तमान समय में शिक्षण के अनौपचारिक माध्यमों में मुक्त तथा पेशेवर दोनों तरह की शिक्षा समाहित है, वे पारंपरिक और आधुनिक दोनों तरह के हैं, मनुष्यों के शिक्षण और समाजीकरण में वे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं—औपचारिक-शिक्षा के जन्म से पूर्व और उसके बाद भी। आकस्मिक-शिक्षा की तरह अनौपचारिक-शिक्षा भी ज्ञान-दान, हुनर सिखाने और (नैतिक) मूल्य का विकास—इन तीनों उद्देश्यों को पूरा करती है, हालांकि परंपरागत रूपों में इसका उपयोग अधिकतर केवल हुनर सिखाने में होता था। यह भी आकस्मिक-शिक्षा की तरह सार्वभौम है और प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के किसी न किसी चरण में **किसी न किसी प्रकार** की कुछ न कुछ अनौपचारिक-शिक्षा अवश्य ग्रहण करता है।

(3) **औपचारिक-शिक्षा** : संस्था के रूप में स्कूल (और इसीलिए शिक्षा के एक माध्यम के रूप में औपचारिक-शिक्षा) का जन्म सामाजिक विकास के उस चरण में हुआ जब श्रम का विभाजन स्पष्टतर होने लगा और अनेक प्रकार की सामाजिक गतिविधियों के लिए विशेष संस्थाओं और विशेष कार्यकर्ताओं की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। उदाहरण के लिए, जब ज्ञान या हुनर इस सीमा तक विकसित हो गये कि उनका पोषण, अभिवर्धन और प्रसार प्रासंगिक अथवा अनौपचारिक माध्यमों से कर पाना संभव नहीं रहा, तब इन कार्यों के संपादन हेतु शिक्षकों जैसे विशिष्ट समुदाय और औपचारिक स्कूल जैसी संस्था की रचना आवश्यक हो गयी। अधिकांश समाजों में यह प्रक्रिया अपौरुषेय धार्मिक ग्रन्थों के विकास और विस्तार से शुरू हुई, क्योंकि तब औपचारिक स्कूलों की

स्थापना तथा हर पीढ़ी में ऐसे व्यक्तियों को प्रशिक्षित करना आवश्यक हो गया जो इस ज्ञान का संरक्षण और प्रसार करें, तथा उसकी यथासंभव या यथेष्ट अभिवृद्धि भी करें। पुरोहित वर्ग और औपचारिक-स्कूल-प्रणाली का जन्म इसी तरह हुआ ताकि नौजवान व्यक्तियों को प्रशिक्षित कर उस वर्ग में सम्मिलित किया जा सके तथा उस वर्ग को जारी रखा जा सके और धार्मिक लोक-संपदा का संरक्षण, अभिवर्धन तथा प्रसार हो सके। आगे चलकर कानून और चिकित्सा, या युद्धकला जैसे अन्य विशिष्ट कार्यक्षेत्रों में भी इस प्रणाली ने कदम बढ़ाये। अतः औपचारिक-शिक्षा और उसकी पूर्ति के लिए सामाजिक संस्था के रूप में स्कूल की अवधारणा मानव समाजों में विकसित हुआ शिक्षा प्रणाली संबंधी आखिरी विचार था। शुरू-शुरू में इसका क्षेत्र बहुत सीमित था और राज्यसत्ता की बनिस्बत समाज की स्वैच्छिक कोशिशों का ही समर्थन इसे अधिक प्राप्त था। परन्तु आधुनिक औद्योगिक समाजों में इसका तेजी से तथा विराट पैमाने पर विकास हुआ, जिसके पीछे कई कारण थे, पहला तो यह कि औद्योगीकरण होते ही उत्पादक कार्य परिवार से हटकर कारखाने में चला गया और बच्चों से काम लेना जरूरी नहीं रह गया। मां-बाप को, अपने काम के सिलसिले में घर से दूर जाना पड़ा, जिससे वे दिन के अधिकांश समय में बच्चों की देखभाल करने में असमर्थ हो गये। बच्चों की यह जबरी बेकारी और मां-बाप द्वारा उनकी देखभाल की असमर्थता के कारण बच्चों की देखभाल के लिए तथा उन्हें शरारत से बचाये रखने के लिए कुछ संस्थाओं की रचना अत्यन्त आवश्यक हो गयी। दूसरे, औद्योगिक समाज को विशेष प्रकार के ज्ञान, हुनर और मूल्यों वाले व्यक्तियों की दरकार थी, और तत्कालीन संस्थाओं के जरिये या केवल आकस्मिक तथा अनौपचारिक-शिक्षण माध्यमों से ऐसे व्यक्ति तैयार करना संभव नहीं था। इसलिए स्कूल समाज की एक महत्वपूर्ण और बुनियादी संस्था बन गयी। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि राज्यसत्ता ने स्कूल नामक संस्था की बड़े पैमाने पर मदद करने का निश्चय किया। ज्यों-ज्यों औद्योगिक संसाधनों पर उसका कब्जा होता गया, त्यों-त्यों स्कूल प्रणाली का भी विस्तार होता गया। तीसरे, इस प्रणाली में आत्म-विस्तार का बीज निहित है, क्योंकि थोड़ी शिक्षा अधिक शिक्षा की मांग पैदा करती है, क्योंकि इस प्रणाली की पैदावार का काफी बड़ा हिस्सा शिक्षक के रूप में इसी प्रणाली में खप गया। इसलिए उनका अस्तित्व जायज दिखाने के लिए अधिक छात्रों की जरूरत होती गयी, और, क्योंकि स्कूल प्रणाली तथा लाभदायक रोजगार का घनिष्ठ आपसी सम्बन्ध होने से औपचारिक-शिक्षा अधिकाधिक व्यक्तियों तथा परिवारों के लिए अधिकाधिक अपरिहार्य होती गयी, इन सभी कारणों से स्कूल प्रणाली आज के अधिकांश समाजों में अत्यन्त महत्व, सम्मान और आकार वाली वस्तु हो गयी है। प्रायः इसे सबसे बड़ा उद्योग कहा जाता है

जिसमें आबादी का बीस या पच्चीस प्रतिशत भाग संलग्न रहता है, जिसमें एक या दो प्रतिशत श्रमशक्ति रोजगार पाती है और जो राष्ट्रीय आमदनी का तीन से छह प्रतिशत भाग का उपभोग करती है। इसके बावजूद यह भी स्पष्ट है कि औपचारिक-शिक्षा केवल तभी सार्वभौम होती है जब सम्बद्ध समाज ने यह सचेत निर्णय लिया हो तथा उस पर अमल किया हो कि एक विशेष आयु वर्ग के लोगों को अनिवार्य रूप से शिक्षित किया जाएगा। इस शिक्षा में व्यक्ति के जीवन का एक अंश मात्र लगता है, और इस अंश की लंबाई उस व्यक्ति की प्रतिभा की बजाय उसकी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक हैसियत पर अधिक निर्भर होती है तथा साथ ही यह किसी व्यक्ति के जीवन-भर न चल सकती है, न चलनी चाहिए। आकस्मिक एवं अनौपचारिक-शिक्षण में और इसमें यही मुख्य अन्तर है। दूसरी ओर, उक्त दोनों माध्यमों की ही तरह औपचारिक-शिक्षा भी एक तिहरी प्रक्रिया है : यह सूचना देती है, हुनर सिखाती है, और मूल्यों की प्रस्थापना में मदद करती है। पर स्पष्टतः इसका सर्वाधिक लाभ ज्ञान के संरक्षण, अभिवर्धन और प्रसार में ही होता है।

अन्य देशों की तरह भारत में भी आकस्मिक, अनौपचारिक और औपचारिक शिक्षण, ये तीनों माध्यम सदियों से मौजूद हैं। आधुनिक शिक्षा की औपचारिक प्रणाली अपेक्षाकृत नयी है, और आज भी इसकी पहुंच केवल कुछ खाते-पीते घरों के लोगों तक है। लेकिन औपचारिक-शिक्षा से वंचित विशाल जनसमुदाय को आकस्मिक तथा परंपरागत अनौपचारिक-शिक्षा मिलती ही है। इससे उनमें से अनेक का चरित्र उन्नत होता है तथा वे बुद्धिमान और सुसंस्कृत होते हैं। चूंकि आधुनिक शिक्षा प्रणाली सूचना प्रदान करने पर बल देती है, भले ही उससे ज्ञान या विवेक न मिले, और चूंकि सार्थक हुनर और मूल्यों की रचना इससे हो ही यह आवश्यक नहीं है, इसलिए औपचारिक-शिक्षा और विवेक, संस्कृति या हुनर के बीच कोई अनिवार्य रिश्ता नहीं है। कोई व्यक्ति औपचारिक-शिक्षा पाने के बाद भी विवेक, हुनर या चरित्र से विहीन हो सकता है जबकि अनेक 'अशिक्षित' और निरक्षर व्यक्ति ऐसा विवेक, हुनर, संस्कृति और चरित्र दिखा सकते हैं जिस पर सहज ही गर्व किया जा सके।

विद्या की इस व्यापक अवधारणा की पृष्ठभूमि में अनौपचारिक-शिक्षा की एक कामचलाऊ परिभाषा की जा सकती है तथा आकस्मिक-शिक्षा एवं औपचारिक-शिक्षा से इसका भेद समझाया जा सकता है।

> — औपचारिक-शिक्षा वह शिक्षा है जो शिक्षा की औपचारिक प्रणाली में दी जाती है। निश्चय ही वह व्यवस्थित होती है और औपचारिक-शिक्षा को अधिकांशतः राज्य सत्ता का या तो सहारा रहता है या स्वयं राज्य उसका समायोजन करता है।

— आकस्मिक शिक्षा में वह सभी कुछ आ जाता है जो एक व्यक्ति समाज में पलने और बड़े होने की प्रक्रिया के फलस्वरूप सीखता है। इसलिए आकस्मिक-शिक्षा पूरी तरह घर और समाज पर आश्रित होती है जो स्वयंमेव शैक्षिक संस्थाएं हैं तथा औपचारिक-शिक्षा की तरह यह खासतौर पर व्यवस्थित नहीं की जाती।

— अनौपचारिक-शिक्षा एक ओर तो औपचारिक-शिक्षा से अलग है और दूसरी ओर आकस्मिक-शिक्षा से भी। औपचारिक-शिक्षा से इस मायने में भिन्न है कि यह औपचारिक स्कूल प्रणाली के बाहर प्राप्त होती है (यद्यपि आकस्मिक-शिक्षा में भी यही खूबी होती है)। आकस्मिक-शिक्षा से इसकी भिन्नता इस बात में है कि यह व्यवस्थित होती है (जबकि आकस्मिक-शिक्षा नहीं होती)।

'अनौपचारिक' कोई बहुत सुखद शब्द नहीं है, अंशतः इसलिए कि यह एक निषेधात्मक पद है (सभी निषेधात्मक परिभाषाएं असंतोषजनक होती हैं) और अंशतः इसलिए कि इसमें आकस्मिक-शिक्षा भी आ जाती हैं (क्योंकि वह भी औपचारिक नहीं होती) लेकिन अंग्रेजी भाषा की मेधा ने एक सुनिश्चित लेकिन अटपटे अर्थ में 'अनौपचारिक तथा अनाकस्मिक-शिक्षा' के लिए इस सरलीकृत पद 'अनौपचारिक' का प्रयोग करना तय किया है। यह प्रयोग सुविधाजनक होने से यहां स्वीकार किया जा रहा है, तथा फिलहाल इसका कोई बेहतर विकल्प भी नहीं सूझ रहा है।

परिभाषा करना टेढ़ी खीर है, और परिभाषा बनाते-बनाते उसमें फेर-बदल जरूरी हो जाया करता है। मसलन, ये तीनों श्रेणियां एक-दूसरे के लिए पूर्णतः अस्पृश्य या त्याज्य नहीं हैं। स्वयं औपचारिक-शिक्षा के भीतर अनौपचारिक-शिक्षण की अंतर्धारा हो सकती है (उदाहरणार्थ, पत्राचार द्वारा शिक्षण या विश्वविद्यालयों की शिक्षेतर गतिविधियां)। कभी-कभी औपचारिक-प्रणाली खुद अपने कार्यक्रमों को दृढ़ या पूर्ण करने के लिए अनौपचारिक-शिक्षा के माध्यमों का (उदाहरणार्थ, रेडियो या टेलीविजन स्कूली शिक्षा में) प्रयोग करती है।

इसके अलावा प्रत्येक स्कूल अपनी तरह का एक समाज होता है और स्कूल के भीतर हमेशा एक तरह का आकस्मिक-शिक्षण भी होता चलता है। अतः स्कूल खुद अक्सर एक औपचारिक समाज बन जाता है (मसलन, एक विश्वविद्यालय जहां शिक्षक और शिक्षार्थी साथ-साथ रहते हैं) और इस प्रकार का समाज जिस तरह की आकस्मिक और अनौपचारिक-शिक्षा प्रदान करता है वह कक्षा में दी गयी शिक्षा से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावशील होती है। इसी प्रकार अनौपचारिक-शिक्षा (जो कि व्यवस्थित किंतु स्कूल के बाहर होती है) और

आकस्मिक-शिक्षा (जो कि औपचारिक स्कूल के बाहर लेकिन असंगठित होती है) के बीच अंतर कर पाना भी हमेशा आसान नहीं होता। उदाहरणार्थ, लड़की जिस तरह गृह कार्य और शिशु-पालन सीखती है या लड़का जिस प्रकार अपने पिता का हुनर सीखता है, या युवक जो कि किसी प्रसिद्ध गायक का शिष्य बनकर संगीत सीखता है, आकस्मिक और अनौपचारिक दोनों तरह की शिक्षा पद्धतियों से लाभ उठाता है। पर जहां ये सीमाएं धूमिल हो जाती हैं उन क्षेत्रों को छोड़कर भी, औपचारिक, अनौपचारिक और आकस्मिक-शिक्षाओं के बीच विभाजक रेखा खींचना तथा उन्हें नितांत अलहदा इकाइयों के रूप में देखना दुष्कर है।

परिभाषा-संबंधी इस विवेचना का समापन करने से पूर्व दो प्रश्नों को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। किसी भी समाज के लिए जरूरी है पूर्ण शैक्षिक प्रक्रिया में **ये तीनों** माध्यम सम्मिलित होंगे ही—औपचारिक, अनौपचारिक और आकस्मिक, और किसी भी समाज में शिक्षा इन तीनों माध्यमों का कुल एकीकृत फल होता है, जिसमें इनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी भूमिका अदा करता है। दूसरे, **प्रत्येक** व्यक्ति इन तीनों माध्यमों में शिक्षा अर्जित करता है (अपवाद केवल वे दुर्भाग्यपूर्ण स्थितियां हैं जहां औपचारिक-शिक्षा अप्राप्य है), और यद्यपि इन माध्यमों का परिमाण और महत्व अलग-अलग व्यक्ति के जीवन में अपेक्षाकृत कम या अधिक हो सकता है, फिर भी पूर्ण शिक्षा के लिए प्रत्येक व्यक्ति का इन तीनों माध्यमों से सरोकार लाभदायक होता है। इस परिस्थिति में किसी एक माध्यम को श्रेष्ठतर या हीनतर बतलाना बचकानापन और निरर्थक होगा। प्रत्येक माध्यम के अपने सबल और दुर्बल पक्ष हैं, अपनी संभावनाएं और सीमाएं हैं, मुख्य चिंता इस बात की होनी चाहिए कि सामाजिक रूप से तथा वैयक्तिक रूप से प्रत्येक माध्यम का सर्वोत्तम उपयोग किस तरह किया जाय।

संक्षिप्त ऐतिहासिक संदर्श

शुरू में कहा जा चुका है कि अनौपचारिक-शिक्षा भारतीय शिक्षा-जगत में सबसे नया मेहमान है। इसका अर्थ केवल यह है कि भारतीय शिक्षाविदों ने अनौपचारिक-शिक्षा के बारे में बातचीत करना अभी हाल में शुरू किया है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि अनौपचारिक-शिक्षा भारत में कोई अजूबा है। वस्तुतः अनौपचारिक और आकस्मिक दोनों तरह की शिक्षा बहुत पुरानी चीजें हैं, और नया कुछ है तो औपचारिक-शिक्षा ही, जो कि अन्य देशों की तरह भारत में भी सबसे अन्त में आयी है। इसलिए संदर्श को ठीक-ठीक पेश करने की गरज से इनके उद्भव और विकास पर विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है।

धुर अतीत में जो अत्यन्त सरल आदिम समाज थे, उनमें आकस्मिक-शिक्षा ही एकमात्र ज्ञात या सुलभ शिक्षा-प्रणाली थी। बच्चे और युवजन घर और

समाज की गतिविधियों में जीकर तथा उनमें हिस्सा लेकर सीखते थे। यह शिक्षा **जीने के लिए** नहीं बल्कि **जीने के जरिये** होती थी, और समाजीकरण तथा शिक्षण की प्रक्रिया में कोई फर्क नहीं होता था।

शनैः-शनैः ज्यों-ज्यों सुलभ ज्ञान का परिमाण बढ़ा और विशेष किस्म के हुनर की जरूरतें बढ़ीं, कुछ लोग कुछेक हुनर के माहिर या विशेषज्ञ होने लगे (उदाहरणार्थ, पुरुष युद्धकला, मत्स्यबेध, शिकार या चिकित्सा में, और स्त्रियां रसोई, कृषि, शिशुपालन और दाईगीरी में)। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा के ऐसे रूप सामने आये जो आकस्मिक और अनौपचारिक-शिक्षा के बीच पड़ते थे, मसलन, बच्चे या युवक परिवार के किसी सदस्य या अन्य किसी योग्य व्यक्ति के शागिर्द होकर आवश्यक हुनर सीखने लगे। आगे चलकर अनौपचारिक-शिक्षा के कुछ नियमित रूप भी संगठित किये गये : मुरिया गोंड कबीले में नौजवानों के लिए **घोटल** बने। ये कोई औपचारिक स्कूल न थे, पर उनसे कुछ शैक्षिक उद्देश्य पूरे होते थे, जो कि घर या समाज से सुलभ नहीं थे। इसलिए विकास के इस चरण में औपचारिक स्कूल का जन्म नहीं हुआ था, और शिक्षा केवल इन्हीं आकस्मिक, अर्द्ध-अनौपचारिक या आरम्भिक अनौपचारिक माध्यमों से होती थी।[1]

पुरातन काल में भी भारतीय समाज का ज्यों-ज्यों विस्तार हुआ, वह अधिक जटिल बना, काफी ऊंचे दर्जे का विशेषीकरण विकसित हुआ, और काफी बड़ी मात्रा में ज्ञान संकलित हुआ जिसकी वृद्धि की रफ्तार भी कुछ हद तक तेज होती गयी। इस तरह चुनिंदा विशेष समुदायों तथा संस्थाओं की आवश्यकता पड़ी जो कि लोकज्ञान के भंडार को संरक्षण, प्रसार और विस्तार दे सके। साहित्यिक वर्गों का उदय इसी तरह हुआ और औपचारिक स्कूल का जन्म हुआ जो क्रमशः बड़ा आकार पाता गया। प्राचीन भारत के विश्वविद्यालय प्रसिद्ध थे जिनमें अध्ययन के लिए दुनिया-भर के ज्ञात देशों से छात्र आते थे। मध्य युग तक यही धारा चलती रही, और जब मुसलमान आये तो पूर्ववर्ती हिन्दू स्कूल प्रणाली में उनकी औपचारिक-शिक्षा व्यवस्था भी जुड़ गयी। अठारहवीं सदी के अंत तक शिक्षा की एक औपचारिक-व्यवस्था सारे देश में कायम हो गयी थी, जिसका भार प्रायः समाज उठाता था। इसी के साथ-साथ आकस्मिक तथा अनौपचारिक-शिक्षा प्रणालियों में भी कुछ परिवर्तन आए। आकस्मिक-शिक्षा की गुणवत्ता अनिवार्यतः

1. वस्तुतः भारत में अनेक कबीलों में जहां स्कूलों की स्थापना अभी भी नहीं हुई है, शिक्षा के यही रूप आज भी एकमात्र सुलभ रूप हैं, और जहां कहीं आधुनिक स्कूल खुल गये हैं वहां भी इतने कम बच्चे इनका उपयोग करते हैं कि यह कहना अकारथ न होगा कि आदिम जनजातियों के अधिसंख्य लोग आज भी आकस्मिक, अर्ध-औपचारिक या आरंभिक अनौपचारिक माध्यमों से ही शिक्षा पाते हैं। गांवों के अधिसंख्य बच्चों पर भी यही बात लागू होती है जो कभी स्कूल में कदम नहीं रखते।

समाज में सुलभ जीवन की गुणवत्ता पर निर्भर होती है और समाज ज्यों-ज्यों परिवर्तित हुआ तथा उच्चतर स्तर हासिल करता गया, त्यों-त्यों आकस्मिक-शिक्षा में भी परिवर्तन आते गए। इसी दौरान अनौपचारिक-शिक्षा की संस्थाएं भी विविध तथा उन्नत होती गयीं। दो परिवर्तन विशेष उल्लेखनीय हैं। उच्चतर शिक्षा की धर्म-आधारित औपचारिक व्यवस्था विशेष वर्गों के लिए थी तथा उस तक पहुंच बहुत कठिन थी, इसलिए जनसाधारण में धर्म के संदेश के प्रसार की जरूरत तेजी से महसूस की गयी। इसने भारत की महान मौखिक परंपरा को जन्म दिया जो कि देश के कोने-कोने में फैल गयी, तथा कटे-छंटे रूप में वह आज भी विद्यमान है। दूसरा परिवर्तन अखाड़ों के जन्म से संबद्ध है जिनमें व्यायाम तथा युद्धकला सिखाकर नौजवानों को सेना के लिए प्रशिक्षित किया जाता था, तथा इसमें जाति की बाधा नहीं थी।

अठारहवीं सदी के अंत में शिक्षा-व्यवस्था के कुछ पक्षों पर विशेष ध्यान जाता है। औपचारिक-शिक्षा-व्यवस्था में प्रवेश अधिकतर जन्मना वर्णों पर आधारित था, तथा उसमें केवल साहित्यिक और पौरोहित्य वर्ण या वर्ग, धनी-मानी भूस्वामी, महाजन और व्यापारी ही जा सकते थे। उच्चतर शिक्षा के औपचारिक संस्थानों में प्रवेश भी कठोर नियमों से घिरा था तथा उनमें धर्मप्राण शिक्षा ही मिलती थी। उनसे आर्थिक या राजनीतिक दृष्टि से कोई उल्लेखनीय प्राप्ति नहीं होती थी, पर समाज में उनके छात्रों और अध्यापकों का भारी सम्मान होता था। औपचारिक प्राथमिक स्कूल उपयोगितावादी थे, गणित लिखना-पढ़ना सिखाते थे, और जहां जरूरी हो, वहां दरबारी भाषा भी तथा वे सरकारी या गैरसरकारी सेवाओं के लिए आवश्यक कार्मिक भी तैयार करते थे। स्त्रियां प्रायः स्कूल जाती ही नहीं थीं और पुरुषों में भी साक्षरता मात्र छह प्रतिशत थी। संक्षेप में, स्कूली व्यवस्था का उपयोग केवल खाते-पीते घरों या सम्मानित वर्गों के लोग करते थे, जबकि अधिसंख्य जनता गरीब तथा सत्ताहीन थी, तथा उन्हें आकस्मिक या अनौपचारिक माध्यमों से ही थोड़ी-बहुत शिक्षा मिल पाती थी। लेकिन यह लक्ष्य किया जाना चाहिए कि इस अंतर से जनसाधारण की स्थिति औपचारिक-शिक्षा पाने वाले वर्गों की तुलना में कोई बहुत बदतर नहीं थी।[1] एक तो इसलिए कि औपचारिक-शिक्षा व्यवस्था से जो सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक पुरस्कार संभावित थे वे कोई बहुत बड़े नहीं होते थे, तथा शिक्षित और अशिक्षित लोगों की जीवन-शैलियों में बहुत बड़ा भेद नहीं होता था। इससे भी महत्व की बात यह है कि समाज में ऊपर चढ़ने का रास्ता औपचारिक-शिक्षा के

1. उनकी स्थिति को विषम बनानेवाले कारण जाति या छुआछूत जैसे सामाजिक विधि-निषेध, या फिर धन या संपत्ति के विषम बंटवारे जैसे आर्थिक तत्व थे।

निषेधात्मक माध्यमों से नहीं, बल्कि सैन्य प्रशिक्षण और सेना में सेवा के अधिक जनतांत्रिक अनौपचारिक माध्यमों के जरिये खुलता था।

पिछले 175 वर्षों में इस स्थिति में अकल्पनीय परिवर्तन आ गया है। मसलन, अब एक आधुनिक औपचारिक-शिक्षा प्रणाली बन चुकी है तथा उसका विकराल विस्तार हो चुका है, इसके अन्तर्गत अब लगभग 700,000 विभिन्न प्रकार की संस्थाएं, लगभग 10 करोड़ छात्र, तीस लाख से अधिक की शिक्षक-सेना, और लगभग 2500 करोड़ रुपये का खर्च होता है। प्रारम्भिक शिक्षा की औपचारिक प्रणाली अठारहवीं सदी की प्रणाली से बहुत भिन्न नहीं है। लेकिन आधुनिक माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षा पुरानी देशी उच्च शिक्षा संस्थाओं से एकदम भिन्न है और उसने हमें दुनिया-भर में बढ़ते जा रहे ज्ञान में योगदान करने तथा उसका लाभ उठाने का अवसर सुलभ करा दिया है। हमारे अभिजात समुदायों को इसने आधुनिक बना दिया है जो उसका पूरा फायदा उठाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय समाज के नागरिक बन गये हैं। इसके कारण हमारे यहां वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक विशेषज्ञों की बड़ी फौज तैयार हो गयी है, दुनिया में आकार की दृष्टि से यह तीसरे स्थान पर है, और यह हमारे अर्थतन्त्र तथा प्रशासन को आधुनिक बनाती है, साथ ही अन्य अनेक विकासशील देशों को आधुनिक बनाने में लगी है। बौद्धिक उपलब्धि का प्रमाणपत्र देने का ठेका इसी व्यवस्था ने ले लिया है, और सुविधा-पद तक पहुंचने के आकांक्षी लोगों के लिए यह सीढ़ी का काम करती है, क्योंकि इस व्यवस्था में विकसित होकर कोई भी जीवन के किसी भी क्षेत्र में महत्वपूर्ण पदों पर पहुंच सकता है। अब चूंकि जाति, सेक्स, धर्म इत्यादि के भेदभाव के बिना इसके द्वार सबके लिए खुले हुए हैं, इसलिए समाज में ऊर्ध्व गमन का यह सबसे अहम माध्यम है। इसी दौरान अनौपचारिक-शिक्षा के भी अनेक नये माध्यम सामने आये हैं। उदाहरणार्थ, देश में एक आधुनिक अखबार-तंत्र या प्रेस बन चुका है, अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाओं में भी। जगह-जगह पुस्तकालय और संग्रहालय स्थापित किये गए हैं तथा अधिकाधिक किये जा रहे हैं। रेडियो अब हर गांव में पहुंच चुका है, फिल्म उद्योग विराट रूप ले चुका है, और टेलीविजन का जाल बिछता जा रहा है। कृषि विस्तार और परिवार नियोजन के कार्यक्रम जनसाधारण या अवाम के लिए विकसित किये गये अनौपचारिक माध्यमों के आधुनिक नमूने हैं।

यह सभी अच्छी और सराहनीय चीजें हैं। लेकिन इस प्रणाली में कई कमजोरियां हैं—परिमाण और गुण दोनों तरह की। इसकी गुणात्मक कमजोरियों में उल्लेख्य हैं, कार्य और विकास से इसका अलगाव, जिस कारण इसका न तो उत्पादकता में ही और न राष्ट्रीय आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से ही कोई सशक्त सम्बन्ध है। सूचना देने और तोतारटंत पर इसका अत्यधिक जोर है।

हुनर तैयार करने में यह कमजोर है और मूल्य-प्रस्थापन में तो सर्वाधिक कमजोर, जैसा कि शिक्षा आयोग ने लक्ष्य किया है, इसका स्तर संतोषजनक कतई नहीं है। स्कूल प्रणाली में प्रवेश लेनेवाले अधिकांश व्यक्तियों के व्यक्तिगत विकास में यह प्रायः कोई योगदान नहीं करती और सामाजिक रूपांतरण में तो उससे भी कम। परिमाण की दृष्टि से इस व्यवस्था की मुख्य दुर्बलता यह है कि इसका लाभ आबादी के बहुत छोटे-से अंश को मिल पाता है। माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षा, जिसके बगैर कोई भी व्यक्ति वर्तमान व्यवस्था के आर्थिक तथा राजनीतिक लाभ नहीं उठा सकता, 15-25 वर्ष की आयु के केवल 10 प्रतिशत लोग प्राप्त कर पाते हैं, इनमें से भी 8 प्रतिशत लोग आबादी के उच्चतर 20 प्रतिशत वर्ग से तथा केवल 2 प्रतिशत लोग निम्नतर 80 प्रतिशत वर्ग से आते हैं। 10 वर्ष से अधिक आयु की 60 प्रतिशत आबादी आज भी निरक्षर है। यह तथ्य स्वयं प्रमाण है कि प्राथमिक शिक्षा केवल एक स्वल्प अल्पमत को ही सुलभ है। आधुनिक अनौपचारिक शिक्षा माध्यमों का भी यही हाल है। प्रेस और पुस्तकालयों का निरक्षरों के लिए कोई अर्थ नहीं है। रेडियो में शिक्षा-तत्व बहुत ही कम है, और फिल्मों में उससे भी कम, बल्कि नकारात्मक। टेलीविज़न केवल महानगरीय विशिष्ट वर्ग को सुलभ है। कृषिगत क्षेत्रों में इसका विस्तार भी अधिकतर धनी किसानों को लाभ पहुंचाता है।

अतएव इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आज भी जनता का अधिकतम हिस्सा परम्परागत अनौपचारिक और आकस्मिक-शिक्षा माध्यमों से ही शिक्षा पाता है। अवाम पर खास कर ग्रामीण जनता पर औपचारिक आधुनिक शिक्षा प्रणाली का कितना कम असर हुआ है यह जानकर आंखें खुल जाती हैं। कुछ गांवों के एक समूह में मैंने सर्वेक्षण करके पाया कि कार्यरत लोगों को जो भी हुनर मिले, वे परंपरागत अनौपचारिक या आकस्मिक तरीकों से ही। मसलन, सभी औरतों ने घर की साज-संभाल और बच्चों की परवरिश स्कूल गये बिना ही सीखी, सभी खेतिहरों ने खेत में काम करके यह कला सीखी, और नाई, दर्जी, धोबी, दाई, चर्मकार, बढ़ई, लोहार या कुम्हार इत्यादि का भी यही हाल है। उस पूरे समुदाय में शिक्षित के नाम पर सरकारी कर्मचारी और लोगों का शोषण करनेवाले कुछ खाते-पीते नेता मात्र थे। ऐसी दुखद स्थिति के नतीजे स्पष्ट हैं। अवाम आज भी गरीब परंपरावादी और सामंती बना हुआ है क्योंकि उन्हें अब भी दकियानूसी अठारहवीं सदी के आकस्मिक और अनौपचारिक माध्यमों से शिक्षा-दीक्षा मिलती है, जिससे उन्हें अपनी मूल्यप्रणाली, अपने अंधविश्वास, अपनी सीमित तथा प्रायः पुरानी जानकारी, और सीमित परंपरागत हुनर हासिल होते हैं। यही वजह है कि हमारा समाज बहुत धीरे-धीरे बदल पा रहा है, गोकि विशिष्ट वर्गों में काफी तेजी से आधुनिकीकरण हो रहा है। इस तरह संपन्न, आधुनिक विशिष्ट समूहों

तथा गरीब, परंपरागत अवाम के बीच बहुत बड़ी खाई पैदा हो गई है। आज यह खाई 18वीं सदी के अंतिम दिनों से भी बड़ी है, जब शिक्षित-विशिष्ट वर्ग तथा अशिक्षित अवाम के बीच खाई पड़नी शुरू हुई थी। प्रथमत: इसलिए कि आधुनिक शिक्षा प्रणाली के आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक पुरस्कार अठारहवीं सदी की औपचारिक-शिक्षा प्रणाली के ऐसे लाभों से कहीं अधिक है, और दूसरे, आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने सम्पन्न शिक्षित लोगों और गरीब, अशिक्षित अवाम की जीवन शैलियों में बहुत बड़ा अंतर पैदा कर दिया है।

इस विषय पर एक सर्वांगीण तथा विस्तृत इतिहास लिखा जाना शेष है। अभी तक भारत में शिक्षा के इतिहास नाम से जो कुछ लिखा गया है वह वस्तुत: भारत में आधुनिक औपचारिक-शिक्षा प्रणाली के जन्म और विकास का इतिहास मात्र है। हमारा उद्देश्य ऐसा इतिहास यहां लिखना नहीं है। पर यहां जो संक्षिप्त ऐतिहासिक समीक्षा की गयी उससे अनौपचारिक-शिक्षा के कुछ पहलुओं पर अवश्य प्रकाश पड़ा होगा जिन्हें अक्सर अनदेखा छोड़ दिया जाता है। मुख्यत: दो मसले प्रकाश में आते हैं :

(1) अनंतकाल से हमारा समाज एक श्रेणीबद्ध और असमतापूर्ण समाज रहा है। हमारे पास प्राचीन, मध्ययुगीन या आधुनिक इत्यादि जो भी शिक्षा प्रणालियां आयीं, उन सबके बावजूद समाज का स्वरूप मूलत: अपरिवर्तित है। आधुनिक काल में इसकी कुछ कमजोरियां (मसलन, इसका एक निषेधात्मक चरित्र) कुछ हद तक कम हुई हैं। लेकिन दूसरी ओर कुछेक प्राचीन विषमताएं और असमानताएं बढ़ गयी हैं। इसलिए भविष्य में शिक्षा-प्रणाली का सुधार करते समय हमें नयी जमीन तोड़नी होगी। हमारी कोशिशें ऐसी हों जिनसे सामाजिक कायाकल्प हो सके, ताकि संविधान के आमुख में परिकल्पित एक अधिक समतापूर्ण समाज की रचना हो सके।

(2) पिछले 175 वर्ष में हमने प्राय: एकाग्र भाव से औपचारिक-शिक्षा प्रणाली के विकास पर जोर दिया है। भविष्य में हमारे प्रयत्न तीनों दिशाओं में हों (क) औपचारिक-शिक्षा प्रणाली का कायाकल्प, विस्तार और सुधार, (ख) अनौपचारिक-शिक्षा के परंपरागत रूपों को आधुनिकता प्रदान करना तथा आवश्यक एवं उपलब्ध नये-नये रूपों से उसकी पूर्ति करना, और (ग) सभी के लिए आकस्मिक-शिक्षा का स्तर और गुणवत्ता बढ़ाना।

अनौपचारिक-शिक्षा में नयी रुचि

गोकि अनौपचारिक-शिक्षा बहुत पुरानी प्रणाली है, न केवल भारत में बल्कि संसार के प्राय: सभी देशों में, पर अनौपचारिक-शिक्षा में गहरी तथा विश्वव्यापी रुचि का जन्म अभी हाल में, 10-15 साल पहले ही हुआ है। जाहिर है कि इसमें

दो अहम प्रश्न खड़े होते हैं : (1) विकासशील तथा विकसित, दोनों तरह के देशों में विश्व-भर में अनौपचारिक-शिक्षा प्रणाली में अचानक यह रुचि कैसे पैदा हो गयी; (2) विश्व में, तथा खासकर भारत में अनौपचारिक-शिक्षा के भावी विकास के बारे में इससे क्या नतीजे निकलते हैं।

पहले सवाल का मूल उत्तर तो उद्योग प्रधान आधुनिक समाज में विराटकाय अनौपचारिक-शिक्षा प्रणाली से हुए मोहभंग में मिलेगा। दूसरे विश्वयुद्ध के अन्त तक विकसित राष्ट्रों में औपचारिक-शिक्षा प्रणाली का अपार विस्तार सभी विकसित राष्ट्रों में हो चुका था, जिसके अन्तर्गत सार्वभौम प्राथमिक शिक्षा सभी बच्चों को तथा माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा अधिकांश युवकों को दी जाने लगी थी। वे यह भी मान चुके थे कि इस प्रणाली का भावी विस्तार अच्छी बात है तथा यह "अच्छा" विनियोजन है। इसीलिए उन्होंने शिक्षा पर खर्च बढ़ाया (राष्ट्रीय आय की वृद्धि-दर से लगभग दुगुनी रफ्तार से)। प्राय: वे सभी सार्वभौम माध्यमिक शिक्षा प्रदान करने, उच्चतर शिक्षा का पर्याप्त विस्तार करने, वयस्कों को काफी मात्रा में शिक्षा देने, तथा स्तर सुधारने में समर्थ रहे। विकासशील देशों को लगा कि औद्योगिक देशों की संपदा, समृद्धि और शक्ति का मूल स्रोत उनकी औपचारिक-शिक्षा प्रणाली ही है (न कि यह उसका नतीजा है) तथा यदि वे भी इस प्रणाली को अपना लें तो अपने देशों को उद्योगमय, धनी और सशक्त बना लेंगे। अत: सर्वोच्च प्राथमिकता देकर अपनी औपचारिक-शिक्षा प्रणालियों के निर्माण में वे एक-दूसरे से होड़ लेने लगे और विकसित राष्ट्रों तथा यूनेस्को जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने सराहना, वित्तीय मदद और तकनीकी मार्गदर्शन देकर उन्हें प्रोत्साहित किया। 1945-65 के बीस वर्षों को, जबकि औपचारिक-शिक्षा प्रणाली की सक्षमता के बारे में बच्चों जैसा विश्वास दृष्टिगोचर हुआ, और जिसके फलस्वरूप दुनिया-भर में इसका अपार विस्तार हुआ, उसे औपचारिक स्कूल का स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

पर तभी मोहभंग शुरू हो गया और औपचारिक-शिक्षा प्रणाली पर कई तरफ से हमले होने लगे। उदाहरणार्थ, समाजविज्ञानियों ने, जिन्हें औपचारिक स्कूल के भारी भरकम दोषों पर शक था, तत्काल लक्ष्य किया कि एक बिंदु पर (लगभग 6 वर्ष की आयु में पहली कक्षा में) प्रवेश के साथ सर्वोत्तम औपचारिक स्कूल में भी, साल-दर-साल कक्षाओं में तरक्की उसके पूर्णकालिक पाठ्यक्रम, और पेशेवर शिक्षकवृन्द की अनेक सभाएं हैं। इसमें केवल गैर-कमाऊ आबादी को शामिल किया जा सकता है, जो कि कुल आबादी का लघुतर तथा कम प्रभावशील हिस्सा होता है। जो बच्चे दुर्भाग्य से इसमें प्रवेश के संकीर्ण द्वार से तिरस्कृत हो जायें, या सामाजिक-आर्थिक कारणों से बाहर निकल आयें, उनको यह प्रणाली न तो दुबारा अवसर दे सकती है, न सहायता। व्यक्ति को मिला कुल शिक्षा (जिसका

अधिकांश भाग उसे घर, समाज और स्वयं व्यक्ति के निजी तथा पेशेवर जीवन से मिलता है) का बहुत थोड़ा अंश मिलता है। इसमें निहित स्वार्थ के विकास की प्रवृत्ति भी होती है जो सुविधावाद जारी रखने या समरूपता बढ़ाने में मदद करता है न कि समता या स्वस्थ असहमति को बढ़ावा देने में। साथ ही, इसकी लागत उस हद तक बढ़ती जाती है कि सबसे धनी राष्ट्र भी महसूस करने लगते हैं कि अब यह उनकी क्षमता के बाहर है।

ये वजनदार दलीलें विकसित और अविकसित दोनों तरह के देशों पर लागू होती थीं। पर गौर करने की बात है कि औपचारिक-शिक्षा पर विकसित तथा अविकसित देशों में अलग-अलग मुद्दों पर हमले किये गये। विकसित राष्ट्रों में सशक्त प्रहार उन शिक्षाविदों ने किया जो यह मानते थे कि अत्यन्त तेजी से परिवर्तनशील समाज में आयी जबरदस्त चुनौतियों का मुकाबला आजीवन शिक्षण के जरिये ही हो सकता है, तथा वे यह मानते थे कि औपचारिक स्कूल अकेले इसका मुकाबला नहीं कर सकता, जब तक कि अनौपचारिक-शिक्षण का एक कल्पनाशील तथा विशाल कार्यक्रम न बनाया जाय जो या तो उसी प्रणाली के अंदर हो, या उसके समांतर। एक भिन्न तरह के शिक्षाविदों ने यह महसूस करके हमला किया कि "शिक्षण" या "सिखाने" पर नहीं बल्कि "सीखने" पर जोर दिया जाय, कि नयी प्रौद्योगिकी के विकास से यह परिवर्तन संभव हो गया है क्योंकि अब अनौपचारिक-शिक्षण के जरिये अल्पकालिक शिक्षण तथा स्वाध्याय संभव है, तथा वे यह मानते थे कि इन हालात में औपचारिक स्कूल पर पुराना, एकांगी जोर शिक्षा की दृष्टि से अवांछनीय है और समय, शक्ति तथा धन का अपव्यय मात्र है। इन प्रहारों ने जनमानस पर तथा शिक्षा जगत पर गहरा प्रभाव डाला, और इसकी उपेक्षा करना असंभव हो गया, और इसके फलस्वरूप शैक्षिक सुधार के अनेक वैकल्पिक प्रस्ताव आये, खास कर अनौपचारिक-शिक्षा के व्यापक विस्तार के, जिन पर व्यापक रूप से बहस हुई तथा उन्हें स्वीकृति भी मिली।

इसके विपरीत, विकासशील देशों में औपचारिक-शिक्षा-प्रणाली के बारे में नितान्त भिन्न कारणों से मोहभंग हुआ। इन देशों ने पाया कि वे अपने समाजों में उस तरह की औपचारिक-शिक्षा-प्रणाली का विकास कर ही नहीं सकते जो गुण और मात्रा में विकसित देशों से टक्कर ले सके, जिसका मुख्य कारण धन की कमी है। इन देशों में प्राथमिकताओं को विकृत कर देने वाले अपार विनियोग के बावजूद औपचारिक-शिक्षा गुण में प्रायः कमजोर रही और उसमें फायदा हुआ भी तो केवल संपन्न लोगों को, जबकि अधिसंख्य सुविधाहीन आबादी इस प्रणाली के कगारों पर या इससे बाहर ही रहने को अभिशप्त हुई। उन्होंने यह भी जाना कि औपचारिक प्रणाली के लाभ धीमे होते हैं, तथा विकास कार्यक्रमों में जन लामबंदी या अशिक्षितों में से शीघ्र तथा कारगर नेतृत्व बनाने जैसे तात्कालिक

कार्यों में इससे कोई मदद नहीं मिलती। उन्होंने यह भी जाना कि पाश्चात्य नमूने की नकल करने पर शिक्षित बेरोजगार जैसी नयी समस्या पैदा होती है, जबकि औद्योगीकरण या विकास संपदा, शक्ति और समृद्धि के सपने पूरे करने में विशेष मदद भी नहीं करती। इसीलिए औपचारिक-शिक्षा पर अत्यधिक बल देने की पुरानी परिपाटी छोड़ने, और कम खर्चीले, विकास कार्य से जुड़े, तत्काल नतीजे देने वाले, समस्त जनता को खासकर ग़रीब एवं सुविधाहीन वर्गों को शिक्षा मुहैया करने में समर्थ नये नमूने या नमूनों की तलाश की जाने लगी। जाहिर है कि इन सभी विचार-विनिमयों में अनौपचारिक-शिक्षा प्रणाली एक सशक्त विकल्प के रूप में उभरी और उस पर पर्याप्त ध्यान दिया जाने लगा।

औपचारिक-शिक्षा-प्रणाली से यह मोहभंग (या कम से कम उस पर एकाग्र बल के प्रति मोहभंग) तथा अनौपचारिक-शिक्षा माध्यमों के विकास की चिंता (गोकि जब तक अनौपचारिक-शिक्षा की पदावलि लोकप्रिय या प्रचलित नहीं हुई थी) अनेक देशों में शिक्षा पुनर्निर्माण की रिपोर्टों में व्यक्त की जाने लगी। हमारे लिए विशेष महत्व की रिपोर्ट शिक्षा आयोग की है, जिसने मौजूदा चिंतन को पर्याप्त प्रभावित किया है। मसलन, उसने 6-14 वर्ष की आयु के बच्चों को अनेक-मुखी प्रवेश और अंशकालिक शिक्षण देकर प्राथमिक शिक्षा को सार्वजनीन बनाने पर बल दिया है (रिपोर्ट के पैरा 7.28 से 7.32)। उसने उच्चतर एवं माध्यमिक स्तरों पर अंशकालिक शिक्षा और स्वाध्याय का प्रावधान व्यापक रूप से रखने, सभी मंडलों तथा विश्वविद्यालयों में प्राइवेट विद्यार्थियों को प्रवेश देने, और माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा का पूर्णकालिक अध्ययन करने में असमर्थ लेकिन शिक्षा जारी रखने के इच्छुक सभी युवजनों को शिक्षा मुहैया करने हेतु पत्राचार पाठ्यक्रम के व्यापक विस्तार के सुझाव दिये हैं। क्रमबद्ध अल्पकालिक कार्यक्रम के जरिये निरक्षरता समाप्त करने एवं प्रौढ़ तथा अनवरत शिक्षण के लिए पर्याप्त व्यवस्था करने के भी सुझाव दिये हैं (अध्याय 16)। अंत में, उसने एक अध्ययनशील समाज की रचना करने तथा सभी को आजीवन शिक्षा सुलभ कराने की आवश्यकता रेखांकित की है, तथा लक्ष्य किया है कि इस प्रक्रिया में (1) पूर्णकालिक औपचारिक स्कूल प्रणाली पर दिया जाने वाला एकांगी जोर समाप्त करना होगा, तथा (2) अल्पकालिक शिक्षण और स्वाध्याय की वैकल्पिक प्रणालियों का बहुत बड़े पैमाने पर विकास करना होगा, जिसे औपचारिक-शिक्षा प्रणाली के समकक्ष मान्यता प्राप्त हो। उसमें कहा गया है :

2.53 : यह याद रखना होगा कि शिक्षा की एकमात्र प्रणाली के रूप में पूर्णकालिक शिक्षा पर निर्भरता से व्यक्ति का जीवन तीन अलग-अलग और हवा-बंद चरणों में बंट जाता है : स्कूलपूर्व चरण जिसमें न तो औपचारिक-शिक्षा है, न काम, स्कूली चरण जिसमें पूर्णकालिक शिक्षा है पर काम कुछ नहीं; और

स्कूलोपरांत चरण जिसमें काम ही काम है पर शिक्षा बिल्कुल नहीं। आधुनिक हो रहे और तेजी से बदलते समाज में शिक्षा को कोई अवधि-सापेक्ष प्रक्रिया नहीं बल्कि आजीवन प्रक्रिया माना जाना चाहिए। उसकी शुरुआत घर से अनौपचारिक ढंग से होनी चाहिए, और उसके बाद राष्ट्रीय नीति का चरम लक्ष्य यह होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को यथाशीघ्र औपचारिक शिक्षा प्रणाली के प्रभाव-क्षेत्र में ले आये, और आजीवन उसके अन्तर्गत उसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से रखे। इसी प्रकार मानव जीवन के किसी भी चरण में काम तथा शिक्षा के बीच कोई हवा-बंद विभाजन नहीं होना चाहिए। पूर्णकालिक शिक्षा में लगे व्यक्ति को अपनी शिक्षा के अनिवार्य अंग के रूप में ही काम का कुछ अनुभव होना चाहिए, और प्रत्येक पूर्णकालिक कर्मचारी के मन में अपनी शिक्षा को जारी रखने की इच्छा तथा अवसर और साधन सुलभ होने चाहिए। इसी प्रकार एक चरण से दूसरे में प्रवेश अचानक न हो। मसलन, शैशव के क्रीड़ा जीवन से औपचारिक शिक्षण में प्रवेश के बीच स्कूली शिक्षण की मानसिक तैयारी का अंतराल रहना चाहिए। युवक को अचानक पूर्णकालिक शिक्षा से पूर्णकालिक रोजगार में नहीं धकेल देना चाहिए। दोनों चरणों के बीच अंशकालिक शिक्षण और अंशकालिक कार्य का एक दौर रहना वांछनीय है।

2.54 : यदि ये लक्ष्य प्राप्त किये जाने हैं, तो पूर्णकालिक शिक्षण पर लगभग एकाग्र जोर देने की वर्तमान नीति छोड़नी होगी, तथा अशकालिक एवं स्वकालिक शिक्षण दोनों वैकल्पिक माध्यमों का हर स्तर पर और शिक्षा के हर क्षेत्र में व्यापक प्रसार करना होगा, तथा उन्हें औपचारिक पूर्णकालिक शिक्षा के समतुल्य दर्जा देना होगा। दूसरे, प्रौढ़ एवं अनवरत शिक्षण पर बहुत अधिक जोर देना होगा, जबकि आज प्रायः इनकी पूर्ण उपेक्षा हो रही है। दोनों सुधारों को मिलाकर देखें तो इनसे :

> वे लोग उस स्तर की शिक्षा पूरी कर सकेंगे, जिसमें वे असमर्थ रहे हैं, तथा वे चाहें तो आगे भी पढ़ सकेंगे;
>
> शिक्षा संस्थान में औपचारिक रूप से नाम लिखाये बगैर शिक्षित व्यक्ति भी अपनी शिक्षा जारी रख सकेंगे;
>
> कर्मचारी बेहतर होने तथा अधिक कमाने में समर्थ होने के लिए ज्ञान, योग्यता और पेशेवर हुनर सुधारने में समर्थ होंगे, और
>
> शिक्षित व्यक्ति अपने ज्ञान को ताजा कर सकेंगे तथा अपनी रुचि के क्षेत्र में नये ज्ञान से कदम मिलाकर चल सकेंगे।

इस किस्म के कार्यक्रम, जोकि विकसित एवं सम्पन्न देशों में भी जारी हैं, भारत जैसे अविकसित तथा गरीब देश में उपेक्षणीय नहीं हो सकते। ये कार्यक्रम स्कूल से जीवन में संतरण को आसान करेंगे, राज्य के शिक्षा खर्च को कम करेंगे,

और शिक्षा प्रणाली में उन अपार जनों को शामिल कर सकेंगे जो शिक्षा जारी रखना चाहते हैं लेकिन पाठ्यक्रमों की बंदिशों के कारण ऐसा नहीं कर पाते हैं।

लेकिन शिक्षा-सम्बन्धी विश्व चिन्तन में अनौपचारिक-शिक्षा को केन्द्रीय स्थान दिलाने का अर्थ ऐसी राष्ट्रीय रिपोर्टों में इक्के-दुक्के उल्लेखों ने नहीं किया है। इसका श्रेय वस्तुतः यूनेस्को द्वारा स्थापित **अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा आयोग** को है जिसने 1972 में 'लर्निंग टू बी' (अस्तित्व के लिए शिक्षा) नाम से अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की थी। इसी रिपोर्ट ने पहली बार औपचारिक-शिक्षा प्रणाली की खामियों को उभारा तथा अनौपचारिक-शिक्षा कार्यक्रमों के विकास की जरूरत रेखांकित की। आगे चलकर इस रिपोर्ट में अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय बहसें हुई हैं और यह भी अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय शिक्षा-चिन्तन का अभिन्न अंग बन गयी हैं। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि इस रिपोर्ट ने अनौपचारिक-शिक्षा को स्थापित कर दिया है।

यह भी लक्ष्य किया जाय कि एक अन्य अनुसंधान के दौरान अर्थात् विकास के वैकल्पिक मार्ग या औद्योगिक समाज के वैकल्पिक नमूने के अनुसंधान के दौरान अनौपचारिक-शिक्षा का महत्व सामने आया है। जब आम नीति-निर्माता तथा विकास-विश्लेषक शिक्षा एवं विकास के अंतःसंबंध का अध्ययन करने लगे, तो उन्होंने पाया कि औपचारिक-शिक्षा, विकास में बहुत थोड़ा योगदान करती है, तथा अनौपचारिक-शिक्षा द्वारा विकास में कारगर एवं त्वरित योगदान की संभावनाएं अपेक्षाकृत बहुत बड़ी हैं। विकासशील देशों में यह विशेष रूप से सच है क्योंकि उनमें आबादी, स्वास्थ्य, भोजन, बेकारी और गरीबी की दुर्निवार समस्याएं हैं। वस्तुतः अनौपचारिक-शिक्षा की 'खोज' का श्रेय शिक्षाविदों की बनिस्बत विकास योजनाकारों को अधिक है।

समाज-सुधारकों ने, जिनका विश्वास था कि औद्योगिक समाज की बजाय ऐसा वैकल्पिक नमूना बनाना चाहिए जो कि मानव कल्याण का बेहतर संवाहक हो, बड़े पैमाने पर यही निष्कर्ष निकाला। इन विचारकों में महात्मा गांधी और इवान इलिच जैसे लोग आते हैं जिन्होंने पाया कि इस नयी समाज रचना के लिए औपचारिक स्कूल का पूर्ण उन्मूलन लगभग अपरिहार्य है, या कि उसका आमूल रूपांतरण करना ही होगा, तथा अब तक अनौपचारिक-शिक्षा पर जितना बल दिया गया है उससे बहुत अधिक बल देना होगा।

हम इस समस्या को शैक्षिक सुधार की दृष्टि से देखें या सामाजिक सुधार की (एक के बिना दूसरा हो ही नहीं सकता), इधर यह निरंतर स्पष्ट होता जा रहा है कि अनौपचारिक-शिक्षा पर बहुत अधिक ध्यान देना होगा और उसे प्राथमिकता देकर आगे बढ़ाना पड़ेगा। वस्तुतः कहा जा सकता है कि शिक्षा चिंतन के अब पांच मुख्य मुद्दे हैं :

(1) किसी समाज या व्यक्ति की शैक्षिक आवश्यकता केवल औपचारिक शिक्षा प्रणाली से पूरी नहीं हो सकती। प्रत्येक समाज (या व्यक्ति) को जरूरत है आकस्मिक, अनौपचारिक और औपचारिक-शिक्षा माध्यमों के एक सर्वांगीण तथा समुचित समन्वय वाले कार्यक्रम की।

(2) अनौपचारिक-शिक्षा **सभी** देशों के लिए जरूरी है, चाहे वे विकसित हों या विकासशील। विकसित देशों में अनौपचारिक-शिक्षा के आग्रह को इस माध्यम पर बल मिलता है कि इससे एक अध्ययनशील समाज बनाने, सभी को आजीवन शिक्षा प्रदान करने, उपलब्ध नयी शैक्षिक प्रौद्योगिकी का पूर्ण उपयोग करने, और शिक्षण या सिखाने की बजाय 'सीखने' पर जोर देकर शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ाने में मदद मिलेगी। दूसरी ओर विकासशील देशों में अनौपचारिक-शिक्षा को प्रोत्साहन देने के तात्कालिक लक्ष्य किंचित भिन्न हैं, अर्थात् औपचारिक-शिक्षा व्यवस्था की लागत कम करना और उसकी प्रभविष्णुता बढ़ाना, जो सामाजिक समुदाय आज इस प्रणाली से वंचित हैं उन तक (खासकर सुविधाहीन एवं गरीब लोगों तक) शिक्षा पहुंचाना, और शिक्षा को विकास के साथ, खासकर उसके तात्कालिक एवं अल्पकालिक पहलुओं के साथ अधिक कारगर तरीके से जोड़ना, दीर्घकाल में ये देश भी अपने यहां अध्ययनशील समाज निर्मित करना चाहेंगे तथा आजीवन शिक्षा सभी को प्रदान करना चाहेंगे, जिसमें पुनः अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों की भूमिका और भी अधिक होगी।

(3) अनौपचारिक-शिक्षा **सभी** सामाजिक समुदायों तथा व्यक्तियों के लिए जरूरी है। सम्पन्न सत्ताधारी वर्ग प्रायः अच्छा आकस्मिक-शिक्षण पा लेते हैं तथा उन्हें औपचारिक-शिक्षा भी अच्छी तरह सुलभ है। पर उन्हें भी अपने जीवन की गुणवत्ता सुधारने और अपनी निजी क्षमता विकसित करने हेतु अनौपचारिक-शिक्षा चाहिए। गरीब तथा उत्पीड़ित जन प्रायः अच्छा आकस्मिक-शिक्षण नहीं पाते तथा औपचारिक प्रणाली का फायदा उठाने में भी वे प्रायः असमर्थ हैं। अनौपचारिक-शिक्षा की आवश्यकता उन्हें और भी अधिक है। इससे वे स्वयं को मुक्त करने के तथा जीवन-स्तर सुधारने के प्रयत्नों में मदद पा सकते हैं।

(4) दुनिया के सभी देशों में सामाजिक पुनर्रचना की आवश्यकता है तथा शैक्षिक सुधार का उस कार्य से गहरा सम्बन्ध रहना चाहिए। यदि मानव-जाति को जीवित रहना है तो हमें उपभोगवाद का अनियंत्रित पीछा छोड़ना होगा जिस पर कि आज का औद्योगिक समाज खड़ा है तथा जिसमें अपार बर्बादी, दुर्लभ संसाधनों का क्षय और वायु-दूषण अनिवार्य है। अतः हमें ऐसा वैकल्पिक समाज बनाना है जो इन बुराइयों से मुक्त हो। विकसित देशों में इसका अर्थ होगा एक सरलतर जीवन शैली, कमतर भौतिक जरूरतों, और अधिकतम शैक्षिक-सांस्कृतिक विकास की दिशा में बढ़ना। विकासशील देशों में इसका अर्थ होगा सभी को

एक सम्मानजनक जीवन-स्तर प्रदान करना, तथा शैक्षिक-सांस्कृतिक उन्नति पर उसी प्रकार बल देना जारी रहे कि सामाजिक पुनर्निर्माण की इन कोशिशों को सफल बनाने के लिए हर तरह की—आकस्मिक, औपचारिक और अनौपचारिक-शिक्षा का आमूल कायाकल्प करना पड़ेगा।

(5) अनौपचारिक-शिक्षा के बारे में अलग-अलग होकर सोचना न तो सभव है न वांछनीय। यह अवधारणा शिक्षा तथा समाज के आमूल सुधार की हमारी खोज के दौरान पैदा हुई है और शैक्षिक तथा समाज सुधार के महत आंदोलन के अभिन्न अंग के रूप में ही इसका विकास करना होगा।

हमारा दृष्टिकोण

भारतीय समाज तथा शिक्षा के सन्दर्भ में उपर्युक्त अन्तिम कथन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। हमें एक समतापूर्ण समाज की रचना के लिए—जिसमें कि सभी को सम्मानजनक जीवन-स्तर सुलभ हो, तथा जिसमें गरीबी, बेकारी, निरक्षरता, अज्ञान और रोग की बुराइयों का उन्मूलन हो चुका हो—चरम प्रयत्न करने होंगे। इस हेतु समूची शिक्षा प्रणाली का भी पुनर्निर्माण परमावश्यक होगा। अतीत में ऐसे प्रयत्नों का नतीजा केवल औपचारिक-शिक्षा प्रणाली का विस्तार तथा सुधार ही हुआ है। भविष्य में इसका अर्थ कुछ अधिक व्यापक तथा महत्वपूर्ण होना चाहिए अर्थात् आकस्मिक, औपचारिक और अनौपचारिक-शिक्षा, इन तीनों माध्यमों का एकीकृत एवं समन्वित ढंग से विकास होना चाहिए। इस प्रयत्न में अनौपचारिक-शिक्षा के विकास पर विशेष जोर देना होगा। अतः यह स्पष्ट है कि अनौपचारिक-शिक्षा में जो नयी रुचि पैदा हुई है, उसका उपयोग भारतीय शिक्षा एवं समाज का आमूल रूपांतरण करने में किया जा सकता है तथा किया जाना चाहिए।

इतने बड़े दायित्व की पूर्ति तभी हो सकती है जब अनौपचारिक-शिक्षा को गंभीरता से लें तथा अतीत में हम जिस तरह अनेक महत्वपूर्ण शिक्षा कार्यक्रमों से खिलवाड़ करते रहे हैं वैसा खिलवाड़ न करें। हम यह न भूलें कि हम किसी नयी शिक्षा अवधारणा या कार्यक्रम के बारे में पहली बार बात नहीं कर रहे हैं। वस्तुतः भारतीय शिक्षा का इतिहास उन विचारों की लाशों से पटा पड़ा है जिन्हें क्षण-भर को अपनाया, फिर त्याग दिया, खासकर अवामी शिक्षा के क्षेत्र में जो हमेशा पिछड़ी रही। उदाहरणार्थ, हमने महात्मा गांधी द्वारा प्रस्तुत बुनियादी तालीम को मूल रूप में या शिक्षा आयोग द्वारा सुझाये गये संशोधित रूप में विकसित नहीं किया। इसी तरह, प्राथमिक सार्वभौम शिक्षा का विचार सौ वर्ष से हमारे सामने है। सबसे पहले दादाभाई नौरोजी ने 1881 में यह पेश किया था, तथा सभी बच्चों को चार वर्ष की अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा देने का सुझाव

रखा था। हमने उसे स्वीकार कर लिया। फिर हमने देखा कि यह तो बिल्कुल ही सर्वसाधारणी है। अतः 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों को अच्छी शिक्षा देने का संकल्प किया। जब यह भी असन्तोषजनक लगा तो हममें से कुछ लोग संविधान में संशोधन करके 16 या 18 वर्ष तक अनिवार्य शिक्षा देने के प्रावधान की चर्चा करने लगे हैं। लेकिन जहां हमारे लक्ष्य कागज पर आसमान छूते जा रहे हैं, हम 1981 तक सभी बच्चों को चार वर्ष की शिक्षा भी नहीं दे पाए जबकि उस वर्ष दादाभाई नौरोजी की मांग की शताब्दी थी।

सार्वजनीन प्रौढ़ शिक्षा का भी यही हाल है, जिस पर 40 वर्ष पहले काम शुरू हो चुका है। इस शताब्दी के चौथे दशक में लोगों को इसे साक्षरता अभियान कहने तथा अवाम की निरक्षरता उन्मूलन करने की बात करने में शर्म महसूस नहीं होती थी। पर हम सोचने लगे कि मात्र साक्षरता से क्या होगा, अतः हमने प्रौढ़-शिक्षा के कार्यक्रम बनाने शुरू कर दिये। जब यह देखा कि प्रौढ़-शिक्षा का काम सामाजिक परिवर्तन लाने के काम से अलहदा नहीं रखा जा सकता, तो हमने उसे असामाजिक शिक्षा का नाम दे दिया और लोगों को नयी शब्दावली से परिचित कराने की गरज से "सामाजिक (प्रौढ़) शिक्षा" को संक्रमणकालीन पदावलि के रूप में अपनाया। कुछ समय तक हम "कामचलाऊ साक्षरता" और "बुनियादी शिक्षा" के ख्यालों से भी खेलते रहे। अब हम सब कुछ भूलकर अचानक अनौपचारिक-शिक्षा खोज लाये, और संक्रमणकालीन कदम के रूप में हम अनौपचारिक प्रौढ़ शिक्षा निदेशालय की स्थापना भी कर चुके हैं। 'साक्षरता' में 'अनौपचारिक-शिक्षा' तक पहुंचने की वैचारिक प्रगति से मैं इंकार नहीं करता, पर यह कहे बगैर भी मैं नहीं रह सकता कि इन तमाम वर्षों में काम के नाम पर बहुत कम काम हुआ है—हमारी जनता का 60 प्रतिशत भाग आज भी निरक्षर है, और उसकी वास्तविक संख्या निरंतर बढ़ रही है।

अतः मैं बहुत जोर देकर अपनी पूरी ताकत से, अर्ज करूंगा कि हम अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों को गंभीरता से उठायें, न कि उस चालू ढंग से जिसके शिकार अतीत में हमारे अनेक अन्य कार्यक्रम हो चुके हैं जबकि उनकी महत्ता भी इतनी ही (या अधिक) थी।

दूसरा अध्याय

अवधारणा, पद्धतियां और स्थान

पिछले अध्याय में यह विचार रखा गया है कि अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों से खिलवाड़ करने की बजाय, हमें अनौपचारिक-शिक्षा में इन दिनों उत्पन्न अभिरुचि का उपयोग शिक्षा तथा समाज में सम्पूर्ण सुधार कार्यक्रम बनाने में करना चाहिए। यदि इस दृष्टिकोण पर आगे चलना है तो हमें एक ऐसी सर्वांगीण शिक्षा-व्यवस्था की रचना के जरिये जिसमें कि औपचारिक, अनौपचारिक और आकस्मिक इन तीनों माध्यमों का समाहार हो, एक अध्ययनशील समाज की रचना करने और सभी लोगों को आजीवन शिक्षा सुलभ करने की दिशा में बढ़ना होगा, जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति को समुचित अवसर अपने सारे जीवन में उपलब्ध होते रहेंगे और :

वह जो चाहे तथा वह जिससे चाहे उससे, अपनी रुचि की रफ्तार से सीख सके, तथा

जो उससे सीखना चाहें उन्हें वह जो जानता है वह सिखा सके।

अतएव यह तथा अगला अध्याय इस कार्यक्रम तथा अनौपचारिक-शिक्षा के विकास में उसके निहितार्थों के विस्तृत विवेचन का प्रयत्न करेगा।

औपचारिक तथा अनौपचारिक-शिक्षा

ऊपर अनौपचारिक-शिक्षा को औपचारिक प्रणाली से बाहर संगठित शिक्षण कहा गया है। शुरुआत के लिए यह काफी अच्छी परिभाषा है। लेकिन इससे अनौपचारिक-शिक्षण के स्वरूप या औपचारिक एवं अनौपचारिक-शिक्षा के आपसी सम्बन्ध का ठीक-ठीक आभास नहीं मिलता। यदि अनौपचारिक-शिक्षा की अवधारणा को ठोस तथा कारगर कार्यक्रमों में रूपांतरित करना है तो इसके मूलभूत गुणों का सविस्तार विवेचन आवश्यक है।

शुरुआत के तौर पर हम औपचारिक और अनौपचारिक-शिक्षा के साम्य-वैषम्य देखें।

(1) औपचारिक स्कूल की संरचना कुछ सिखाने या अध्यापन के लिए की जाती है अतः इसी विशेष उद्देश्य के चतुर्दिक सभी कुछ बन जाता है। मसलन,

कर्मचारीवृंद, भवन, उपकरण, और छात्र इस अभिप्राय से संगठित होते हैं। अनौपचारिक-शिक्षा का केन्द्र-बिन्दु है **सीखना** या **अध्ययन** : स्वयंमेय **अध्ययन** या अभिरुचि रखने वाले व्यक्तियों के साथ सामूहिक अध्ययन, और इसी अभिप्राय के चतुर्दिक कर्मचारीवृंद व्यक्तियों के साथ **सामूहिक अध्ययन**, भवन, उपकरण, पाठ्यक्रम इत्यादि संगठित होते हैं।

(2) औपचारिक स्कूल प्रायः **पूर्णकालिक** संस्था होती है और वह मूलतः अकर्मचारियों अर्थात् बच्चों तथा युवजनों के लिए होती है, इसीलिए इसका उपयोग प्रायः खाते-पीते परिवार करते हैं जो अपने बच्चों को शीघ्र ही वहां भेज देते हैं तथा देर तक वहीं रखते हैं, और इसी कारण, गरीबों के बच्चों को चूंकि जल्दी ही रोजी-रोटी कमाने में लगना पड़ता है, वे स्कूल छोड़ देते हैं। इसके विपरीत अनौपचारिक-शिक्षण कार्यक्रम मूलतः उनके लिए है जो काम के साथ अध्ययन करना चाहते हैं और इसीलिए ये अंशकालिक (या सैंडविच की तरह, काम के घंटों के बीच) होते हैं।

(3) औपचारिक स्कूल का संचालन पूर्णकालिक तथा पेशेवर करते हैं। अनौपचारिक कार्यक्रम भी ऐसे शिक्षक चला सकते हैं। पर इनमें बड़ी तादाद में अर्ध-पेशेवर या गैर-पेशेवर शिक्षक या स्वयंसेवक भी रहते हैं, या ऐसे लोग, जो अपने ज्ञान को दूसरे जिज्ञासुओं में बांटने को तैयार हैं।

(4) औपचारिक स्कूल में शिक्षक की भूमिका प्रायः एक श्रेष्ठतर व्यक्ति जैसी होती है तथा शिक्षक-शिष्य सम्बन्ध प्रायः शास्ता-शासित का, दाता-ग्राहक का, सक्रिय-निष्क्रिय का रहता है। अनौपचारिक कार्यक्रमों में शिक्षक एक समकक्ष व्यक्ति की तरह अपने छात्रों के साथ अध्ययन की संयुक्त कार्यवाही में लगता है और शिक्षक तथा शिष्य एक दूसरे को निरन्तर देते-लेते रहते हैं। प्रायः छात्र ही आपस में सीखते हैं जबकि शिक्षक का कार्य इस कार्य को सुगम बनाना मात्र रहता है।

(5) औपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों का संगठन स्कूल के ही जरिये होता है जो कि शिक्षा प्रदान करने की एक विशिष्ट संस्था होती है परन्तु अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम लगभग हर तरह की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संस्थाओं, यथा खेत-खलिहान, कारखानों, दुकानों, पुस्तकालयों, संग्रहालयों, प्रेक्षागृहों इत्यादि के चतुर्दिक चल सकते हैं। वस्तुतः अनौपचारिक कार्यक्रम गैर-शिक्षक और गैर-शैक्षिक संस्थाओं का उपयोग करने की अपार क्षमता रखते हैं, जिससे समाज के उन विशाल संसाधनों का उपयोग सम्भव है जिन्हें कि औपचारिक स्कूल प्रणाली छूती भी नहीं है।

(6) कुल मिलाकर औपचारिक-स्कूल प्रणाली समरूपता तथा कट्टरपन की धारणाओं से प्रभावित रहती है। इसके विपरीत, अनौपचारिक कार्यक्रमों में

उपस्थिति ऐच्छिक होती है। यदि कार्यक्रम उपयोगी, प्रासंगिक तथा रुचिकर हुआ, उनके समय तथा श्रम के लायक प्रतीत हुआ, तो लोग आकर उसमें शरीक होते हैं।

(7) औपचारिक स्कूल में शिक्षार्थी प्रायः अकर्मचारी होते हैं। इसलिए स्कूलों में काम-काज के अनुभव से परिश्रम कराना आवश्यक लेकिन बहुत दुरूह होता है। अनौपचारिक-शिक्षण में अधिसंख्य शिक्षार्थी कर्मचारी होते हैं। अतः हमें काम-काज पर आधारित शिक्षा तैयार करनी है जो कि अपेक्षाकृत सहज है।

(8) औपचारिक-शिक्षा प्रणाली अक्सर केन्द्रीकृत होने लगती है। इसके विपरीत, अनौपचारिक-शिक्षा का स्वरूप ही ऐसा है कि विकेन्द्रीकरण अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि जिज्ञासुओं को उनकी अपनी आवश्यकता, रुचि तथा प्राथमिकता परिभाषित करने की प्रक्रिया में कारगर ढंग से शामिल करना पड़ता है।

(9) औपचारिक-शिक्षा कार्यक्रमों की लागत प्रायः ऊंची बैठती है। क्योंकि पेशेवर पूर्णकालिक कर्मचारीवृंद तथा अन्य संबद्ध नीतियों की यही दरकार होती है। अनौपचारिक-शिक्षण में लागत कम आती है क्योंकि अर्ध-पेशेवर और गैर-पेशेवर लोगों का उपयोग संभव है तथा सामुदायिक संसाधनों का भरपूर उपयोग हो सकता है।

इस तरह की तुलना कई अन्य पक्षों को लेकर भी की जा सकती है, पर उसकी शायद जरूरत नहीं है। यह सही है कि औपचारिक-शिक्षा के कुछ कार्यक्रम इतनी अच्छी तरह से संगठित हैं कि उनसे अनौपचारिक-शिक्षा के बारे में बनाये गये कई गुण मेल खाते हैं, तथा अनौपचारिक-शिक्षा के कई कार्यक्रम ऐसे हैं कि वे अपनी संभावना का पूरा उपयोग नहीं कर पाते तथा औपचारिक-शिक्षा की विशेषताओं को अपनाने लगते हैं। फिर भी उपर्युक्त विभेद आम तौर पर सही है, और यह कहा जा सकता है कि औपचारिक-शिक्षा एक **व्यवस्था** है जिसका अपना विशेष ढांचा, अंतर्बद्ध अंग और आंतरिक तारतम्य है, अनौपचारिक-शिक्षा एक **अव्यवस्था** या **मुक्त व्यवस्था** है। यह मात्र एक सामूहिक नाम है जिसके अंतर्गत औपचारिक-शिक्षा के बाहर के कई विभिन्न संगठन, शैक्षिक गतिविधियां समाहित हैं तथा जो विभिन्न समुदायों की अध्ययनगत आवश्यकताएं पूरी करती हैं—बच्चों, नौजवानों, प्रौढ़ों, पुरुषों, स्त्रियों, किसानों, कारीगरों, व्यापारियों, धनिकों, गरीबों इत्यादि की आवश्यकताओं के बदलने के साथ-साथ वह भी बदल जाती हैं। लेकिन हम अनौपचारिक-शिक्षा को समस्त रोगों के लिए रामबाण औषधि नहीं मान सकते। हम यह न भूलें कि अनौपचारिक-शिक्षा से हम प्रासंगिकता तो हासिल कर सकते हैं, पर ज्ञान की क्रमबद्धता खो सकते हैं, और इसके लचीलेपन तथा उपयोगिता का लाभ विस्मरण तथा सतहीपन के कारण नष्ट हो सकता है। अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों पर भी वही सामाजिक अंकुश काम करते

हैं जो औपचारिक-शिक्षा में बाधक हैं, हालांकि ये कार्यक्रम उन बाधाओं पर विजय पाने या उनसे बचने की अधिक क्षमता रखते हैं। यह भी उतना ही स्पष्ट है कि औपचारिक-शिक्षा की बनिस्बत अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम तैयार करना और उन पर अमल करना अधिक चुनौती भरा कार्य है।

यह संकेत भी किया जा सकता है कि औपचारिक-शिक्षा अनौपचारिक-शिक्षा की अपेक्षा अधिक लाभदायक स्थिति में है। मसलन, औपचारिक-शिक्षा को अपार प्रतिष्ठा प्राप्त है क्योंकि वह लोगों की उपलब्धियों का प्रमाणपत्र देने में एकाधिकार रखती है, क्योंकि वही प्रतिष्ठित पेशों (या अन्य पेशों के प्रतिष्ठित पदों) के लिए लोगों को प्रशिक्षण देती है, और क्योंकि इसके द्वारा प्रमाणित उपलब्धियों का प्रतिष्ठित तथा ऊंची तनख्वाह वाली नौकरियों से घनिष्ठ संबंध है। यही नहीं, लोग किसी व्यक्ति की योग्यता इस बात से नहीं आंकते कि वह क्या है या क्या कर सकता है या क्या जानता है, बल्कि उस औपचारिक-शिक्षा से आंकते हैं जो उसने हासिल की है। मसलन, **बी० ए०** पास व्यक्ति निरक्षर व्यक्ति से अधिक योग्य माना जाता है, भले ही बी० ए० पास व्यक्ति बदमाश और मूर्ख हो तथा निरक्षर व्यक्ति बुद्धिमान तथा भला। अनौपचारिक-शिक्षा के कुछ कार्यक्रमों को इसी प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त है (उदाहरणार्थ डॉक्टरों, सरकारी अधिकारियों या व्यावसायिक अधिकारियों का सेवा-काल में प्रशिक्षण) क्योंकि वे कार्यक्रम प्रतिष्ठित लोगों के लिए ही होते हैं। लेकिन अनौपचारिक-शिक्षा के अधिसंख्य कार्यक्रम चाहे वे उदारवादी (अर्थात् साक्षरता के) या पेशेवर, मसलन किसानों की योग्यता बढ़ाने वाले हों, इस प्रतिष्ठा से वंचित हैं तथा उनसे प्रतिष्ठितों की सेवा नहीं होती। अक्सर ही उनका दिखावटी लक्ष्य स्कूलों में दी गयी औपचारिक-शिक्षा को, कुछ गुण खोकर, ऐसे ग्राहकवर्ग तक पहुंचाने का है जो गरीबी या बेकारी के कारण स्कूलों में नहीं जा सकता। इसके फलस्वरूप यह भ्रामक धारणा घर कर जाती है कि अनौपचारिक-शिक्षा प्रौढ़ शिक्षा और साक्षरता का ही दूसरा नाम है या कि यह दूसरे दर्जे के लोगों के लिए दूसरे दर्जे का शिक्षण मात्र है।

अधिकांश विकसित या विकासशील देशों में मौजूदा स्थिति वही है जो ऊपर बतायी गयी, तथा उनमें अंतर अगर है भी तो मात्रा का, न कि गुण का। हर जगह औपचारिक-शिक्षा अधिक समरूप, अधिक कट्टर, अधिक केन्द्रीकृत और अधिक आकर्षक व्यवस्था है, जबकि अनौपचारिक कार्यक्रम विविध, लचीले, विकेन्द्रित और ऐच्छिक हैं। अनौपचारिक-शिक्षा को इन मुद्दों से लाभ होना चाहिए, पर औपचारिक-शिक्षा माध्यम अधिक प्रतिष्ठित है, प्राप्त संसाधनों का अधिकांश उपभोग करता है, और अधिकतर संपन्न लोगों का हित-साधन करता है। अनौपचारिक-शिक्षा कार्यक्रमों का कमोबेश अनुपात में स्वयं औपचारिक-शिक्षा प्रणाली में समावेश है तथा उसे वही प्रतिष्ठा एवं उच्च स्थान मिलता है।

किन्तु अधिकांश कार्यक्रम शिक्षा प्रणाली के बाहर ही रहते हैं, प्रतिष्ठा और उच्च स्थान से वंचित हैं, औपचारिक-शिक्षा से उनका कोई वास्ता नहीं है, और प्रायः कम सुविधागत समूहों के काम आते हैं। इसलिए प्रश्न यह है कि क्या हम यह स्थिति वाजिब मान लें और खामोश रहें या कि हम इसे बदलने की कोशिश करें, और यदि हां, तो किस दिशा में। ये मसले जाहिर ही बहुत महत्व रखते हैं और इनका समाधान नहीं हुआ है। वस्तुतः इस संबंध में चार अलग-अलग तरह के विचार प्रचलित हैं जिनकी छानबीन जरूरी है।

(1) **डी-स्कूलिंग समाज** : इनमें से प्रथम तथा शायद सबसे क्रांतिकारी प्रस्ताव इवान इलिच ने पेश किया है। वह समता और व्यक्ति के आत्मसम्मान एवं स्वायत्तता के लिए गहरे ढंग से प्रतिबद्ध है और जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए व्यग्र है। उनकी दृष्टि में आधुनिक औद्योगिक समाज में, जो कि उपभोगवाद को ही लक्ष्य मानता है तथा जहां दमनकारी संस्थाओं एवं पेशेवर विशेषज्ञों के संगठित गिरोहों के कारण व्यक्ति की स्वतंत्रता अत्यंत सीमित हो गयी है, इन बुनियादी मूल्यों की क्षति हुई है तथा जीवन की गुणवत्ता नष्ट हो गयी है, इसलिए वह चाहते हैं कि आधुनिक औद्योगिक समाज की जगह एक सौहार्दपूर्ण समाज की स्थापना हो—

> जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वायत्तता तथा उन्नति की सुविधाएं रहें;
> जिन पर दूसरे व्यक्तियों की उसी प्रकार की स्वायत्तता तथा सुविधाओं के अधिकार का अंकुश हो;
> जिसमें उपभोगवाद एकमात्र लक्ष्य न रह जाय, और संसाधनों का निर्मम एवं बर्बादीपूर्ण शोषण समाप्त हो जाय;
> जिसमें हर व्यक्ति समता तथा न्याय के आधार पर आवश्यक वस्तुएं तथा सेवाएं प्राप्त कर सके ताकि किसी का भी जीवन-स्तर एक न्यूनतम निर्धारित मानदंड से नीचे न हो, न ही एक अधिकतम निर्धारित मानदंड से ऊंचा हो;
> जिसमें समुचित प्रौद्योगिकी का प्रयोग हो ताकि अवाम द्वारा उत्पादन की एक नई प्रणाली मौजूदा बड़े पैमाने पर उत्पादन की प्रणाली की जगह ले ले;
> जिसमें संगठित पेशेवर न हों और दमनात्मक की बजाय सौहार्दपूर्ण संस्थाएं एक केन्द्रीकृत ढांचे की बजाय विकेन्द्रित ढांचे में कार्य करें।

जीवन और समाज के इस स्वप्न की पृष्ठभूमि में ही इलिच के समाज की डी-स्कूलिंग (समाज के अनध्यापन) के प्रस्ताव को परखा और समझा जाना चाहिए।

जहां तक शिक्षा का प्रश्न है, इलिच सबसे अधिक ज़ोर अध्ययन (या

स्वाध्याय) पर देते हैं, न कि शिक्षण (अध्यापन) पर। वह अनौपचारिक तथा आकस्मिक-शिक्षण माध्यमों के भी प्रबल पक्षधर हैं जिनसे, उनकी राय में, हमारी सभी जरूरतें पूरी हो सकती हैं। इसके विपरीत वह पाते हैं कि औपचारिक स्कूल अपनी तमाम कट्टरताओं और प्रत्यक्ष-परोक्ष बाध्यताओं के कारण, और पूर्ण-कालिक शिक्षकों की विशाल फौज के कारण कुशिक्षा के साधन हैं, न कि शिक्षा के, और यह प्रणाली जनता को समुचित शिक्षण देने में सहायक नहीं, बाधक है। वह यह भी मानते हैं कि औपचारिक-शिक्षा की खामियां इतनी बड़ी हैं कि उन्हें दूर नहीं किया जा सकता। अतएव उनकी सिफारिश है कि औपचारिक स्कूल को पूरी तरह समाप्त किया जाय या कि समाज को स्कूल-मुक्त कर दिया जाय,[1] और उसकी जगह अनौपचारिक या आकस्मिक माध्यमों से अध्ययन करने की विविध सुविधाएं प्रदान की जायं। इलिच की राय में इससे हम अंधकार के युग की ओर नहीं लौटेंगे बल्कि एक शिक्षित, सुसंस्कृत और अध्ययनशील समाज की रचना की दिशा में बहुत बड़ा कदम उठा रहे होंगे, जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन भर अध्ययन करेगा तथा अन्य जिज्ञासुओं को अपने ज्ञान का लाभ प्रदान करेगा।

इलिच के सशक्त तर्कों के बावजूद दुनिया के शिक्षा-जगत तथा अन्य लोगों में से केवल कुछ ही उनसे सहमत हुए हैं तथा वे औपचारिक स्कूल के कुछ विकल्पों पर प्रयोग कर रहे हैं। अधिकांश लोग इन विचारों को "यूटोपियन" (स्वप्न-लोकीय) मानते हैं क्योंकि इलिच ने स्कूल प्रणाली को ध्वस्त करने में तो सराहनीय करतब दिखाया है, पर उनके अपने प्रस्तावों के सकारात्मक पक्षों की विश्वसनीयता संदिग्ध है और वह अनौपचारिक-शिक्षा के जिन वैकल्पिक ढांचों की रचना चाहते हैं, वे पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं हैं। कई लोग यह भी मानते हैं कि इलिच जिस आदर्श सौहार्दपूर्ण समाज की बात करते हैं उसमें शायद औपचारिक स्कूल की जरूरत न हो, पर अनध्यापन या स्कूल-मुक्त समाज से बहुत-सी समस्याएं पैदा हो जायेंगी और हमारे पास जो असमतापूर्ण एवं श्रेणीबद्ध समाज आज है उसमें कालचक्र बहुत पीछे घूम जायेगा। इस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ है। लेकिन इस समय यह शास्त्रीय बहस का प्रश्न अधिक है, ठोस कार्रवाई का कम।

महात्मा गांधी और इवान इलिच के विचारों में बहुत साम्य है, जो देखने लायक है। दोनों ही औद्योगिक समाज से असंतुष्ट हैं तथा लगभग एक-सा विकल्प चाहते हैं। महात्मा गांधी की राय थी कि शिक्षा के क्षेत्र में औपचारिक स्कूल प्रणाली को राज्य का सहारा न दिया जाय तथा शिक्षक एवं छात्रों की अपनी

1. इवान इलिच, डी-स्कूलिंग सोसायटी, पेंग्विन बुक्स लि०, हार्मंड्सवर्थ, मिडिलसेक्स, इंग्लैंड, 1973.

कमाई या जनता के ऐच्छिक दान से उसे चलाया जाय। यह विचार "डी-स्कूलिंग" के बहुत करीब है। यद्यपि हमने बुनियादी तालीम कार्यक्रम के माध्यम से सार्वजनिक शिक्षा के बारे में महात्मा गांधी के विचारों पर अमल करने के प्रयत्न किये हैं, पर हम आत्मनिर्भरता के बारे में उनकी धारणा कभी स्वीकार नहीं कर सके, जिसे कि वे (पक्की कसौटी) मानते थे। इसी प्रकार ब्रिटिश शासन में जिन राष्ट्रीय उच्चतर अध्ययन संस्थानों ने सरकारी मदद लेने से इन्कार किया था, वे आजादी के बाद उसे स्वीकार करने लगे। निश्चय ही यह अपरिहार्य था, पर यह राज्य से अपनी आर्थिक स्वतंत्रता बनाये रखने की गांधीवादी शिक्षा की धारणा के विपरीत है।

(2) **औपचारिक-स्कूल का आमूल रूपांतरण** : इलिच की बड़ी उपलब्धि यह है कि उसने औपचारिक स्कूल की अनेक खामियों से सभी को वस्तुतः अवगत करा दिया है तथा अब औपचारिक-स्कूल पूर्ववत नहीं रह सकते, और डी-स्कूलिंग की उनकी बात से कोई सहमत हो या न हो, पर एक बात तय है : प्रत्येक व्यक्ति यह मानने लगा है कि औपचारिक-स्कूल का आमूल सुधार आवश्यक है ताकि शिक्षण के बजाय अध्ययन पर जोर डाला जा सके, वह लचीला और वैविध्यपूर्ण हो सके, अंशकालिक शिक्षा तथा स्वाध्याय के कार्यक्रम विकसित कर सके और गैर-शिक्षक समेत समाज के सभी संसाधनों का उपयोग हो सके। अतः इस समस्या के निदान का दूसरा तरीका यह है कि औपचारिक-स्कूल का आमूल सुधार किया जाय। दुनिया के प्रायः सभी देशों में शिक्षाविदों तथा जनता के बीच यह सबसे लोकप्रिय कार्यक्रम है। पर इस बात का उल्लेख किया जाना चाहिए कि औपचारिक-स्कूल का आमूल सुधार यद्यपि आवश्यक है, पर हमारा जो लक्ष्य है उसकी पूर्ति के लिए यह कार्य पर्याप्य नहीं है। अनौपचारिक और आकस्मिक-शिक्षा के मौजूदा कार्यक्रमों में भी सभी कुछ ठीक नहीं है। औपचारिक-स्कूल के साथ-साथ अनौपचारिक तथा आकस्मिक-शिक्षा में सुधार करना तथा उन्हें औपचारिक धारा में एकीकृत करना भी आवश्यक है।

(3) **सहयोगात्मक दृष्टिकोण** : इस समस्या का तीसरा समाधान सहयोगात्मक दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है। औपचारिक-स्कूल की कठोर आलोचना और औपचारिक-शिक्षा कार्यक्रमों के उतने ही प्रबल समर्थन के प्रति सरकारी प्रतिक्रिया प्रायः नीचे दी गई किस्म की कार्रवाई निर्दिष्ट करती है।

(क) औपचारिक-स्कूल में कुछ सुधार करना, जो कि छुटपुट किस्म के सुधार होंगे लेकिन जिनसे इसकी कमजोरियों पर कोई खास असर नहीं होगा; और

(ख) अनौपचारिक-शिक्षा के कुछ कार्यक्रम भी शुरू करना।

यह सहयोगात्मक दृष्टिकोण बुनियादी शैक्षिक समस्याओं का कोई वास्तविक

हल नहीं है; क्योंकि इसके अन्तर्गत एक विशाल असस्कृत औपचारिक-स्कूल प्रणाली अनौपचारिक-शिक्षा की एक समानान्तर प्रणाली के साथ-साथ विद्यमान रहेगी; जिसके साथ प्रायः सौतेला बर्ताव होगा। लेकिन अधिकांश विकासशील देशों में यही हो रहा है। उदाहरण के लिए भारत में प्राथमिक शिक्षा को सार्वजनीन बनाने के लिए अनौपचारिक कार्यक्रमों का विकास **एकमात्र** रास्ते के तौर पर सुझाया गया है। लेकिन औपचारिक और अनौपचारिक तत्वों को समन्वित करके, जिससे कि प्रत्येक बालक एक से अधिक बिन्दुओं पर अपनी सुविधा के अनुसार प्राथमिक स्कूल में प्रवेश के लिए स्वतंत्र हो सके, खुद अपनी रफ्तार से सीख सके, अपनी जरूरतों के अनुसार पूर्णकालिक या अल्पकालिक आधार पर अध्ययन कर सके, इस तरह समूची प्राथमिक शिक्षा का रूपान्तरण करने के बजाय मौजूदा अपव्ययी और निष्प्रभाव औपचारिक प्राथमिक शिक्षा प्रणाली को **यथावत** जारी रख रहे हैं जिसमें उससे बाहर निकल जाने वाले या निकाल दिये जाने वाले बालक रहेंगे, और हम अनुपस्थित रहने वाले बच्चों के लिए अनौपचारिक-शिक्षा की कुछ कक्षाएं मात्र जोड़ रहे हैं। यह महज समस्या से खिलवाड़ है और अनौपचारिक-शिक्षा के सशक्त उपकरण का सम्पूर्ण शिक्षा सुधार में उपयोग नहीं किया जा रहा है। इस तरह के अधकचरे प्रयत्न हम जितनी जल्दी छोड़ दें उतना ही अच्छा।

(4) समन्वयात्मक दृष्टिकोण : अब हम चौथे और अंतिम प्रस्ताव पर आते हैं और वह है शिक्षा के तीनों माध्यमों के सुधार के प्रति एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण का विकास। इस प्रस्ताव के अन्तर्गत तीनों मोर्चों पर एक साथ कार्रवाई आवश्यक है।

(क) औपचारिक-शिक्षा में मूलगामी सुधार के एक अनवरत तथा विस्तृत कार्यक्रम का विकास किया जाय। उदाहरण के लिए भारत की परिस्थितियों में एकल बिन्दु प्रवेश की प्रथा समाप्त की जाय, स्कूली व्यवस्था लचीली की जाय और वैविध्यपूर्ण हो। वह मात्र पूर्णकालिक न हो और अंशकालिक तथा स्वकालिक शिक्षा के वैकल्पिक माध्यमों का पूरा विकास किया जाए। पूर्णकालिक शिक्षकों पर नितान्त निर्भरता त्याग दी जाए और समाज के समस्त शैक्षिक संसाधनों का उपयोग किया जाए।

(ख) अनौपचारिक-शिक्षा के मौजूदा रूपों का अध्ययन तथा उनमें सुधार किया जाए। अनौपचारिक-शिक्षा के नये-नये रूप आवश्यकतानुसार शुरू किये जाएं। वस्तुतः अनौपचारिक-शिक्षा के विशालकाय विकास पर पूरा-पूरा जोर दिया जाए (इस समय स्कूल के माध्यम से जो अनेक प्रकार की अनौपचारिक-शिक्षा दी जा रही है, उसका स्थान अनौपचारिक-शिक्षा ले

ले ताकि उसे कम से कम औपचारिक-शिक्षा के बराबर का स्थान मिल जाए)।

(ग) आकस्मिक-शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए भी साथ ही साथ प्रयत्न किया जाए।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि इन तीनों कार्यक्रमों को स्वतन्त्र और समानान्तर माध्यमों के रूप में नहीं बल्कि **समाज के लिए शिक्षा** की एक प्रणाली के समन्वित संश्लिष्ट और एकीकृत अंगों के रूप में विकसित किया जाए।

सभी बातों पर विचार करने पर हमारा सर्वोत्तम विकल्प शिक्षा की एक ऐसी नयी प्रणाली का विकास करना है, जिसमें शिक्षा के औपचारिक और आकस्मिक कार्यक्रम समाविष्ट हों। जो पूर्णकालिक, अंशकालिक और स्वकालिक शिक्षा के तीनों ही माध्यमों के कार्य करे और उन्हें समान दर्जा दिया जाए; जिससे कि सभी संस्थाओं का अध्ययन के लिए पूरा-पूरा उपयोग किया जा सके, इससे समस्त मानवीय संसधानों के उपयोग के कारण पूर्णकालिक पेशेवर शिक्षकों पर वर्तमान पूर्ण निर्भरता समाप्त हो सकेगी और प्रत्येक व्यक्ति शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों हो सकेगा; सभी व्यक्ति जीवन भर अध्ययन के लिए आवश्यक अवसर पा सकेंगे क्योंकि यह पर्याप्त रूप से लचीली और वैविध्यपूर्ण होगी। इस परिकल्पना की शायद सबसे अच्छी अभिव्यक्ति निम्नलिखित सिद्धान्तों, सुझावों और सिफारिशों में मिलेगी जो कि अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा आयोग की रिपोर्ट में प्रस्तावित हैं :

(1) विकसित और विकासशील दोनों तरह के देशों में भावी शैक्षिक नीतियों की मूल अवधारणा आजीवन शिक्षण होनी चाहिए।

(2) प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति ऐसी होनी चाहिए जिससे वह जीवन-भर अध्ययन कर सके।

(3) प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता और सुविधा के अनुसार मनुष्य हर आयु में शिक्षण जारी रखे। इसके लिए मनुष्य को शुरू से ही तथा विभिन्न चरणों में दिशा निर्देश मिलना चाहिए, जिसमें समस्त शिक्षा के वास्तविक अभिप्राय को ध्यान में रखा जाना चाहिए: निजी अध्ययन, आत्म-शिक्षण और आत्म-प्रशिक्षण। शिक्षा सिर्फ स्कूल की चहारदीवारी में कैद न रहे। सभी तरह की वर्तमान संस्थाओं, चाहे वे शिक्षा के लिए हों या न हों और सामाजिक तथा आर्थिक गतिविधि के विभिन्न रूपों का शैक्षिक उद्देश्यों में उपयोग किया जाना चाहिए।

(4) शिक्षा बहुविधि माध्यमों से प्रदान तथा अर्जित की जानी चाहिए (चाहे औपचारिक हो या अनौपचारिक, चाहे संस्था निबद्ध हो या उन्मुक्त)। महत्वपूर्ण बात यह नहीं है कि व्यक्ति ने कौन-सा रास्ता अपनाया है बल्कि यह है कि उसने क्या सीखा या पाया है।

(5) विभिन्न शैक्षिक विषयों, पाठ्यक्रमों और स्तरों, तथा औपचारिक और अनौपचारिक-शिक्षा के बीच नकली और घिसे-पिटे विभेदों को समाप्त कर देना चाहिए। आवर्ती शिक्षा क्रमशः शुरू की जानी चाहिए।

(6) एक सर्वांगीण मुक्त प्रणाली अध्येताओं को उसके भीतर आगे-पीछे और ऊपर-नीचे जाने में मदद करती है और उन्हें अपने चयन के लिए विस्तृत क्षेत्र प्रदान करती है।

(7) प्रत्येक व्यक्ति को अधिक आजादी से, एक अधिक लचीले ढांचे में अपना रास्ता चुनने में समर्थ होना चाहिए, तथा यदि वह उस प्रणाली से हट जाए तो ऐसा न हो कि उसे जीवन-भर शिक्षा सुविधाओं के उपयोग से वंचित होना पड़े।

अनौपचारिक-शिक्षा और कार्य (श्रम)

औपचारिक-शिक्षा की तुलना में अनौपचारिक-शिक्षा की भूमिका दो अन्य संदर्भों में भी परखनी होगी—कार्य (श्रम) और विकास—ताकि उसकी अवधारणाओं, लक्ष्यों, पद्धतियों और कार्यक्रमों को स्पष्ट किया जा सके।

पारंपरिक औपचारिक स्कूल कार्य तथा उदारवादी शिक्षा, दोनों संदर्भों में गलत अवधारणाओं पर आधारित है। उसकी मान्यता थी कि बौद्धिक कार्य शारीरिक कार्य से श्रेष्ठतर है और उदारवादी शिक्षा कार्य के विरुद्ध थी, इस अर्थ में कि जो लोग उदारवादी शिक्षा पायें वे हाथ से काम न करें, या जो काम न करें, उन्हें उदारवादी शिक्षा न दी जाए। इससे समाज में दो वर्ग बन गये, जो दोनों ही असामान्य हैं—पहला वर्ग विशिष्ट जनों का था जो कि शिक्षित, आरामतलब, सुसंस्कृत थे, जो हाथ से काम न करते थे और अवाम के शोषण पर परजीवी ऐयाश जीवन बिताते थे। दूसरा वर्ग था विराट जनसमुदाय जो हाथ से काम करता और देश की अधिकांश संपदा पैदा करता, पर जो शोषित होता रहता तथा उदारवादी शिक्षण, आराम या प्रमुख सांस्कृतिक परंपरा से वंचित गरीबी का जीवन बिताता। हम अब इन गलत धारणाओं से छुटकारा चाहते हैं, सभी को शिक्षा देना चाहते हैं, और उसे कार्य या श्रम से एकान्वित करना चाहते हैं ताकि शिक्षित-अशिक्षित वैषम्य समाप्त हो, और हर नागरिक श्रम-जीवी भी हो तथा शिक्षित-सुसंस्कृत नागरिक भी। वह जीवन के उच्चतर ध्येयों की पूर्ति के लिए पर्याप्त अवकाश या आराम भी पाये। इस दृष्टि से हमें एक नयी मूल्य-व्यवस्था अपनानी होगी जो बौद्धिक एवं शारीरिक कार्य श्रम को समान दर्जा दे, और हमारे वेतनमानों को तदनुसार बदले। इस प्रकार हमें सभी को शिक्षा प्रदान करनी हैं—सिर्फ विशिष्ट वर्गों को नहीं बल्कि अवाम को भी। अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम इसी जगह बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं, क्योंकि अनौपचारिक-शिक्षा के बगैर सभी

सामाजिक समूहों को समुचित शिक्षा की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार, पारंपरिक औपचारिक स्कूल इस गलत मान्यता पर आधारित हैं कि कार्य और शिक्षा साथ-साथ नहीं चल सकते, और यह कि जीवन को दो भागों में बांटना चाहिए, पहला वह जिसमें शिक्षा ही शिक्षा है पर कार्य नहीं, दूसरा वह जिसमें शिक्षा बिल्कुल न हो, सिर्फ काम ही काम हो। अब हमारी दृष्टि यह है कि शिक्षा और कार्य (या श्रम) में ऐसा विभाजन नहीं है कि वे एक दूसरे के सहायक हैं, इस अर्थ में कि कार्य करते हुए शिक्षा बेहतर होती है। और, शिक्षा से कार्य की गुणवत्ता बढ़ती है, तथा शिक्षा और कार्य दो बुनियादी शक्तियां जिनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का जीवन जन्म से मृत्यु तक ढाला जाना चाहिए—एक साथ, न कि परंपरागत औपचारिक प्रणाली की कल्पना के अनुसार बारी-बारी से। अतएव न केवल पारंपरिक औपचारिक स्कूल प्रणाली को आमूल बदलना होगा, बल्कि कार्य की इस नयी अवधारणा के अनुरूप अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम भी विकसित करने होंगे। हमारे देश में इसका विशेष रूप से महत्व है। दुर्भाग्य की बात है कि हमारी औपचारिक-शिक्षा प्रणाली मूलतः उन बौद्धिक वर्गों के लिए बनी थी जो शारीरिक श्रम को हेय समझते थे तथा कभी भी प्रत्यक्ष उत्पादन की प्रक्रिया में संलग्न नहीं होते थे। परिणामतः वह शिक्षा कार्य (या श्रम) से बिल्कुल अलग हो गयी, तथा यह विलगाव आज तक इस प्रणाली पर हावी है। महात्मा गांधी ने इस प्रणाली की इस कमजोरी को उजागर किया था तथा बताया था कि श्रम और शिक्षा अन्योन्याश्रित हैं तथा यह कि कार्य के माध्यम से ही सर्वोत्तम शिक्षा दी जा सकती है। यही वजह है कि उन्होंने बुनियादी तालीम की योजना बनायी जिसके जरिये उन्होंने औपचारिक स्कूल में श्रम के प्रवेश का प्रयत्न किया। अनौपचारिक-शिक्षा की समस्या किंचित भिन्न है, पर उतनी ही अर्थपूर्ण है। यहां हमें शिक्षा में श्रम का प्रवेश नहीं कराना है (क्योंकि अधिकांश अनौपचारिक शिक्षार्थी पहले ही कुछ न कुछ कार्य में लगे हैं) बल्कि शिक्षा को श्रम के आधार पर निर्मित करना है (क्योंकि इन लोगों को ऐसी शिक्षा चाहिए जो इनके अपने कार्य को सार्थकता दे तथा उनकी आमदनी एवं कुशलता में वृद्धि करे)। लेकिन हम चाहे औपचारिक-शिक्षा प्रणाली में श्रम को सन्निविष्ट करें, या कि, अनौपचारिक कार्यक्रमों में श्रम (या कार्य) पर शिक्षा का निर्माण करें, बुनियादी सिद्धान्त दोनों जगह वही गांधी की सूक्ति है: शिक्षा के बिना श्रम यांत्रिक बोझ है और श्रम के बिना शिक्षा परोपजीविता, शोषण एवं हिंसा का नैरंतर्य मात्र है।

अनौपचारिक-शिक्षा एवं विकास

अनौपचारिक-शिक्षा और विकास के अंतःसंबंध पर काफी लंबा विवाद रहा

है। एक ऐसा वक्त था (शायद अब भी है) कि राष्ट्रीय उत्पादन मात्र को विकास का समार्थक माना जाता था और इस मान्यता के आधार पर यह देखा जाता था कि औपचारिक-शिक्षा (जो आधुनिक काल में आवश्यक रूप में वैज्ञानिक अनुसंधान एवं प्रौद्योगिक विकास पर जोर देती थी) का विकास से सीधा नाता है। मसलन, यह दिखाया गया कि आर्थिक विकास केवल पूंजी और श्रम से नहीं होता, और एक ऐसा अवशिष्ट कारण रह जाता है, जिसे केवल शिक्षा के संदर्भ में समझाया जा सकता है, जो कि अधिकांशतः औपचारिक स्कूल में दी जाती है। इसलिए समाजों के विकास में शीघ्र ही ऐसी गंभीर अलगाव की स्थिति आ जाती है जब शिक्षा, विज्ञान, अनुसंधान और प्रौद्योगिकी की तरक्की राष्ट्रीय उत्पादन में परिवृद्धि में परिलक्षित होती है, तथा वह अपनी बारी में शिक्षा के साधन बढ़ाती है और उसे विकसित करती है। विकसित देशों में यह स्वर्णचक्र स्थापित हो चुका है जहां शिक्षा-अनुसंधान-उत्पादकता-शिक्षा का वलय पूर्ण गति के ऊपर उठ रहा है। विकासशील देशों में औपचारिक-शिक्षा आवश्यक तौर पर उत्पादकता से नहीं जुड़ी है इसलिए शिक्षा में प्रसार प्रायः उत्पादकता के विपरीत जाता है और शिक्षा का आगे विस्तार न तो संभव रह जाता है, न वांछनीय। अतएव शिक्षा में एक बड़ा सुधार यह होना चाहिए कि विज्ञान के बेहतर शिक्षण, श्रम-अनुभव के सन्निवेश, व्यवसायीकरण, पेशेगत प्रशिक्षण और अनुसंधान को बढ़ावा देकर शिक्षा को उत्पादकता से जोड़ा जाय। अतएव यह बिल्कुल समीचीन था कि आयोग (1964-66) ने इन कार्यक्रमों पर अधिक बल दिया।

गोकि यह जरूरी है, पर पर्याप्त नहीं, क्योंकि स्वयं 'विकास' की अवधारणा बदलती जा रही है। अब हम विकास को आर्थिक वृद्धि का समतुल्य नहीं मानते, तथा हम मनुष्य के लिए आवश्यक विकास में सामाजिक, सांस्कृतिक, और राजनीतिक विकास को भी शामिल करना चाहते हैं। इसी प्रकार, अब हम विकास को औद्योगीकरण का (या कि आधुनिकीकरण का भी) समार्थक भी नहीं मानते और ऐसा नहीं सोचते कि आधुनिक औद्योगिक समाज एक आदर्श नमूना है। हम विकास के नये तरीकों की तलाश में हैं और समाज के नये नमूने की, जहां गांधीजी के विचार अत्यन्त प्रासंगिक हैं। इसी तरह, हम समता और न्याय को विशेष महत्वपूर्ण मानते हैं। पुराने दिनों में हम राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि को ही महत्व देते थे, भले ही उससे आय-वितरण में वृहत्तर विषमताएं पैदा हों। वस्तुतः एक दृष्टि यह भी थी कि यदि आर्थिक प्रगति करनी है तो विषमताएं पहले बढ़ेंगी ही। आज हम विकास प्रक्रिया के अविभाज्य अंग के रूप में सामाजिक न्याय की रचना करना चाहते हैं कि समाज शोषण एवं हिंसा से मुक्त हो। पहले हम उपभोक्तावाद, वस्तुओं में वृद्धि एवं सेवा के विकास पर ही जोर देते थे, आज हम स्वयं मानव के विकास एवं सेवा के विकास पर ही जोर

देते हैं तथा भौतिक वस्तुओं से उसे उच्चतर मानते हैं। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि हम अब साधन और साध्य दोनों को समान रूप से अहम मानते हैं, न कि पहले की तरह केवल साध्य को। विकास की पद्धतियां, मसलन विकास प्रक्रिया में लोगों की संलग्नता, उन्हें सामाजिक विकास के प्रति जागरूक करना, फौरी समाधान खोजने में तथा क्रियान्वित कराने हेतु उनको संगठित करना एवं उनकी मदद करना — ये सभी कार्य स्वयं विकास जितने महत्वपूर्ण हैं।

विकास की इस परिवर्तित अवधारणा में या कि एक नयी समाज-व्यवस्था की तलाश में यह स्पष्ट है कि औपचारिक-शिक्षा के कई सुधार आवश्यक हैं। पहला है शिक्षा को उत्पादकता से जोड़ना। दूसरा है शिक्षा में समता पर जोर देना तथा सुनिश्चित करना कि औपचारिक-शिक्षा का लाभ आबादी के सभी वर्गों को समान रूप से मिले। और तीसरा है यह देखना कि शिक्षा-व्यवस्था विशिष्ट वर्ग को बढ़ावा न दे, कि वह शिक्षित जनों में अवाम के प्रति करुणा और प्रेम पैदा करे, और यह कि उनकी सेवा के लिए उनमें प्रतिबद्धता जाग्रत हो, जैसा कि सुविदित है, शिक्षा आयोग (1964-66) ने इन कार्यक्रमों पर प्रभूत बल दिया था।

लेकिन यहां इस बात को अधिक जोर देकर कहना पड़ेगा कि नयी विकास धारणा के सम्बन्ध में अनौपचारिक-शिक्षा कार्यक्रमों की भूमिका अधिक प्रत्यक्ष और महत्वपूर्ण है। इस संदर्भ में इस समस्या के पांच पहलुओं पर विचार करना होगा। पहला यह कि अनौपचारिक-शिक्षा औपचारिक शिक्षा की बनिस्बत फौरी नतीजे देती है। औपचारिक-शिक्षा एक धीमी और दीर्घकालीन तैयारी की प्रक्रिया है। हम छोटे-छोटे बच्चों को लेते हैं और नतीजे केवल 15-20 वर्ष बाद देखने को मिलते हैं जब वे वयस्क और युवक हो जाते हैं। इसके विपरीत, अनौपचारिक-शिक्षा के नतीजे जिसमें मुख्यतः नौजवान और प्रौढ़ लोग आते हैं, काफी जल्दी, कहें कि एक से पांच वर्ष में सामने आने लगते हैं। विकासशील देशों के हाथ से समय खिसका जा रहा है, और वे औपचारिक-शिक्षा की बनिस्बत अनौपचारिक-शिक्षा के इस बड़े लाभ को नज़रअन्दाज नहीं कर सकते।

दूसरा मुद्दा यह है कि विकासशील देशों में जो नेतृत्व सत्ता में आ रहा है उसे प्रशिक्षित करने में अनौपचारिक-शिक्षा काम आ सकती है। अनेक मामलों में नेता बहुत थोड़ी औपचारिक-शिक्षा पाये हुए हैं और अपने काम के लिए तैयार नहीं हैं। उन्हें औपचारिक-शिक्षा स्कूल में भर्ती करना—जिनमें से अनेक अधेड़ या बूढ़े भी हैं—और आर्थिक उन्नति, समाज विकास, या राष्ट्र-निर्माण के भारी काम के लिए तैयार करना लगभग असंभव है। लेकिन अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम इस हेतु उचित ढंग से बनाये जा सकते हैं, और वास्तव में उनका विकास तथा क्रियान्वयन प्राथमिकता देकर होना चाहिए।

तीसरा पहलू अनौपचारिक-शिक्षा की मूल विषयवस्तु से संबंधित है। हम सभी जानते हैं कि शिक्षा से हमेशा विकास ही नहीं होता, तथा कभी-कभी तो शिक्षा विकास में बाधक भी हो सकती है। इसके विपरीत शिक्षा के बगैर भी "विकास" हो सकता है। एक भारतीय राज्य में ग्रामीण रास्तों के विकास का कार्य पुलिस विभाग को सौंप दिया गया था, हालांकि कार्यक्रम पर अच्छा अमल हुआ पर जनता को कोई शिक्षा नहीं मिली। आपात्काल में परिवार-नियोजन कार्यक्रम जिस तरह चलाया गया वह शिक्षाहीन विकास का एक और उदाहरण है—बल्कि कुशिक्षा का उदाहरण है। इस तरह की अवांछनीय स्थितियों के विपरीत, अनौपचारिक-शिक्षा में शिक्षा तथा विकास एकीकृत हैं। इसके कार्यक्रम अकसर विकास कार्यों पर आधारित रहते हैं और इसका लक्ष्य जनता को स्वयं समस्याएं समझने एवं परिभाषित करने और हल करने में मदद देना है। वस्तुतः अनौपचारिक-शिक्षा का एक उम्दा ध्येय वाक्य है—पुनर्निर्माण से शिक्षा और शिक्षा से पुनर्निर्माण। एक तरफ तो अनौपचारिक-शिक्षा से विकासात्मक कार्यक्रमों को गति मिलती है तथा क्रियान्वयन कारगर होता है, दूसरी ओर विकास स्वयं अनौपचारिक-शिक्षा की सामग्री को बढ़ाने में और उसके लक्ष्य पाने में मदद करता है।

चौथा मुद्दा यह है कि अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम जनता को विकासात्मक गतिविधियों में घनिष्ठ रूप से संलग्न कराते हैं। दुर्भाग्य से हमने अब तक विकास के बारे में केवल प्रशासकीय दृष्टि अपनायी है, अर्थात् हम उसी को विकास समझते रहे हैं, जिसे जनता चुपचाप स्वीकार कर ले और जो नौकरशाही या ऐच्छिक समाज सेवकों जैसे किसी प्रशासकीय समूह द्वारा रचा गया हो। इसमें संदेह नहीं कि परिवर्तन वाहकों की भूमिका सामाजिक कायाकल्प में महत्वपूर्ण होती है। लेकिन रूपांतरण तब तक नहीं हो सकता; जब तक कि जनता स्वयं परिवर्तन प्रक्रियाओं में शरीक न हो। यह कार्य अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम सर्वोत्तम ढंग से करा सकते हैं जिनमें लोग स्वयं सामाजिक परिवर्तन लाने में सक्रिय हिस्सा लेते हैं। वस्तुतः उन कार्यक्रमों का मूल उद्देश्य कुछ पूर्व निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं, बल्कि स्वयं लोगों को बदलना ही है।

पांचवां, और शायद सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा यह है कि औपचारिक-शिक्षा स्वभावतः यथास्थिति बरकरार रखना चाहती है तथा संपन्न वर्ग का पक्ष लेती है, जबकि अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम गरीब एवं शोषित समुदायों को शोषणात्मक यथार्थ के प्रति जागरूक बनाते हैं, संगठित होने तथा मुग्ध होने में मदद करते हैं। यह महत्वपूर्ण है कि पाउलो फ्रेरे ने उत्पीड़ितों के शिक्षा शास्त्र की रचना अनौपचारिक-शिक्षा कार्यक्रमों की रचना करते हुए की थी, और उनकी तकलीफें यद्यपि औपचारिक-शिक्षा पर भी लागू की जा सकती हैं लेकिन उनका

सर्वोत्तम रूप अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों में ही होता है।

यह उल्लेखनीय है कि पाउलो फ्रेरे की तकनीक सभी शिक्षाविदों को स्वीकार्य नहीं है। कुछ यह मानते हैं कि हमें शिक्षण एवं प्रत्यक्ष राजनीतिक समाजीकरण में फर्क करना चाहिए, और वे समझते हैं कि पाउलो शिक्षा की बजाय प्रत्यक्ष राजनीतिक समाजीकरण के हिमायती हैं। यह दलील भी दी जाती है कि कोई भी राज्यसत्ता अपनी शिक्षा प्रणाली में उस किस्म की राजनीतिक दीक्षा की अनुमति नहीं देगी, जिसकी हिमायत पाउलो फ्रेरे करते हैं। इसके विपरीत अनेक शिक्षाविद् मानते हैं कि कोई भी शिक्षा राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ नहीं होती, तथा जब तक समतापूर्ण समाज की रचना के लिए कुछ विधेयात्मक तत्व समाविष्ट नहीं होंगे, तब तक शिक्षा केवल यथास्थिति की रक्षा करती जान पड़ेगी। अतः वे मानते हैं कि सुविधाहीन समुदायों के लिए अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों की कोशिश उनके दिमाग में शोषक यथार्थ की चेतना जगाना तथा उन्हें संगठित होकर अपनी मुक्ति के लिए लड़ने में मदद पहुंचाना होना चाहिए। वे यह भी मानते हैं कि भारतीय गणराज्य, जिसमें सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व है (गरीबों समेत) उत्पीड़ितों के शिक्षा-शास्त्र को अनुमति दे देगा या उसे देना चाहिए। खेद है कि भारत में इस किस्म के वास्तविक प्रयोग बहुत ही कम हुए हैं।

यहां यह भी उल्लेख्य है कि महात्मा गांधी मानते थे कि समस्त शिक्षा में राजनीतिक विषयवस्तु[1] होनी चाहिए, इस अर्थ में कि शिक्षा के जरिये बुनियादी मूल्यों में गहरी प्रतिबद्धता विकसित की जाय तथा जनता को समस्त अन्याय एवं गलतियों के खिलाफ अहिंसक एवं शांतिपूर्ण सत्याग्रह के जरिये लड़ने का साहस मिले। गांधीजी ने 1920 से 1947 की अवधि में औपचारिक-शिक्षा के बाहर एक अनौपचारिक-शिक्षा का वास्तविक अभियान भी चलाया। उस समय औपचारिक-शिक्षा प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में भारत से इंग्लैंड की श्रेष्ठता का परोक्ष या प्रत्यक्ष प्रतिपादन करने और सम्राट के प्रति वफ़ादारी प्रस्थापित करने में लगी हुई थी। जब इसके बावजूद छात्रों और अध्यापकों के मन में राष्ट्रीयता के भाव पैदा होने लगे, तो इस शिक्षा प्रणाली ने उसे 'अनुशासनहीनता' का नाम दे दिया और कुचलना चाहा। सामाजिक क्षेत्र में सरकार की नीति मुख्यतः तटस्थता की थी। इस कमजोर राजनीतिक विषयवस्तु के कारण, या जनता को विवेकमुक्त करने में विफलता के कारण ही इस शिक्षा प्रणाली ने त्वरित समतापूर्ण परिवर्तन आगे बढ़ाने की बजाय यथास्थिति को संजोकर रखने में मदद की। यही कारण है कि महात्मा गांधी ने छात्रों को स्कूल तथा कालेज छोड़ देने की राय दी। उन्होंने

1 इसके विस्तृत विवेचन के लिए परिशिष्ट 1 देखें।

मुक्ति सेनानियों को देश सेवा और राष्ट्रीय शिक्षा का प्रशिक्षण देने के लिए औपचारिक-शिक्षा प्रणाली से अलग स्वतन्त्र संस्थाएं बनायीं।

लेकिन यह उल्लेख्य है कि शिक्षा प्रणाली की इस विफलता के बावजूद भारतीय जनता एक तरह की राजनीतिक-शिक्षा हासिल करने में समर्थ हुई, जिससे कि आगे चलकर आजादी पाने में मदद मिली। स्कूल प्रणाली से अलग, गांधीजी के स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान यह घटित हुआ। करोड़ों लोगों ने संघर्ष में भाग लिया और निजी लगाव के जरिये राजनीतिक शिक्षा हासिल की—यह 'कर्म से शिक्षा' का उदाहरण है। अतः गांधीजी इस देश के सर्वश्रेष्ठ अनौपचारिक-शिक्षा के प्रवर्तक थे, तथा गांधीजी के बाद का भारत उनके पहले के भारत से निहायत भिन्न था। जनता को उन्होंने जो "राजनीतिक साक्षरता" प्रदान की उसी से हम एक प्रभुता सम्पन्न जनतांत्रिक गणराज्य बन सके।

अनौपचारिक-शिक्षा पद्धतियां

अनौपचारिक-शिक्षा पद्धतियों पर विचार करते समय इसके कार्यकर्ताओं, उनके प्रशिक्षण कार्यक्रमों, प्रयोज्य सामग्री और उनकी रचना, शिक्षण एवं मूल्यांकन, संगठन एवं वित्त के प्रश्न अनिवार्य रूप से उठते हैं। अगले अध्याय में इन पर विचार किया जायेगा। यहां एक मुद्दे पर जोर देना जरूरी है, वह यह कि औपचारिक-शिक्षा-प्रणाली से ये मूलतः भिन्न हैं। इसका कारण औपचारिक-शिक्षा से अनौपचारिक-शिक्षा की भिन्नताएं हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। ये भिन्नतायें हैं :—अध्ययन पर जोर न कि अध्यापन पर, अंशकालिक और स्वकालिक माध्यमों का अधिक उपयोग, गैर पेशेवरों का शिक्षकों के रूप में उपयोग, बंधुआ श्रोताओं का अभाव, विविधता-लचीलेपन-नम्यता पर जोर, कार्य (श्रम) और विकास का समन्वय, गैर शिक्षापरक संस्थाओं और प्रक्रियाओं का उपयोग और विकेन्द्रित दृष्टिकोणों की आवश्यकता। ये सभी विभेद अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों का आयोजन औपचारिक-शिक्षा से अधिक जटिल बना देते हैं, और चूंकि अधिसंख्य अनौपचारिक शिक्षार्थी कामगार हैं और गरीब तबकों से आते हैं तथा अनौपचारिक-शिक्षा एवं राजनीतिक समाजीकरण के बीच सीमा रेखा अक्सर धुंधली होती है, इसलिए भी ये कठिनाइयां बढ़ जाती हैं। शिक्षक, प्रशासक और नियोजक के सामने इन नयी, कल्पनाशील और गतिशील पद्धतियों का विकास तथा उपयोग करना एक बुनियादी चुनौती की तरह है।

ज्ञातव्य है कि शिक्षा सुधार के हमारे सर्वांगीण कार्यक्रमों के अन्तर्गत हम औपचारिक-शिक्षा को अक्षुण्ण नहीं रहने देंगे। अनौपचारिक-शिक्षा के नये-नये कार्यक्रम बनाते समय, या परंपरागत कार्यक्रमों को आधुनिकता देते हुए हम औपचारिक-शिक्षा में भी आमूल सुधार लाना चाहते हैं। इसलिए औपचारिक-शिक्षा

के सुधार में भी नयी पद्धतियों की समान रूप से जरूरत है। औपचारिक तथा अनौपचारिक, दोनों माध्यमों में शिक्षण (अध्ययन) की नयी, कल्पनाशील और गतिशील पद्धतियों का हमें विकास करना है।

औपचारिक या अनौपचारिक क्षेत्रों में हम यह कैसे करेंगे, तथा शुरुआत कहां से करेंगे। औपचारिक क्षेत्रों की मुख्य कठिनाइयां इस प्रणाली की भयंकर निश्चलता से उत्पन्न हैं, यह प्रणाली इतना विराट रूप ले चुकी है तथा ऐसा एक-छत्र ढांचा बना चुकी है कि वांछित परिवर्तन लाने के लिए अपार शक्ति और धन की आवश्यकता पड़ेगी। शायद हम में यह शक्ति नहीं है, न ही इस समय पर्याप्त धन नजर आता है। ज्यों-ज्यों समय बीतता है, इस प्रणाली की आकृति और कट्टरता बढ़ती जाती है, और परिवर्तन के लिए प्रयत्न की हमारी शक्ति घटती हुई प्रतीत होती है। वे समस्याएं अनौपचारिक क्षेत्र में नहीं हैं क्योंकि वह एक नयी तथा अपेक्षाकृत छोटी व्यवस्था है, और इसीलिए उसमें वांछित परिवर्तन लाने का अच्छा अवसर प्रतीत होता है। इसका अनुभव प्राप्त कर लेने पर यही अनुभव औपचारिक-शिक्षा प्रणाली के परिवर्तन में भी बहुत काम आ सकता है। 1921 में गांधीजी ने शिक्षकों और छात्रों को सलाह दी थी कि वे सरकारी शिक्षा प्रणाली से बाहर निकलकर एक अलग राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली स्थापित करें, ताकि अंततः सारी सरकारी शिक्षा प्रणाली को राष्ट्रीय रूप दिया जा सके। उनका अभिप्राय यह था कि सरकारी शिक्षा प्रणाली को सुधारने का अभियान बाहर से शुरू हो, और उस अभियान को इतना बढ़ाया जाय कि वह स्वयं सरकारी शिक्षा प्रणाली पर काबिज हो सके तथा उसे सुधार सके। यह प्रयत्न कई कारणों से सफल नहीं हुआ। मुख्य कारण यह है कि राष्ट्रीय स्कूल इतने कम थे कि उनका समूची प्रणाली पर असर नहीं के बराबर हुआ। यदि हम इस प्रयोग की भूलों से सबक लें और अनौपचारिक-शिक्षा बड़े पैमाने पर तैयार करें, तो शक नहीं कि हम ऐसे व्यक्ति प्रशिक्षित कर सकेंगे तथा वह मूल्यवान अनुभव पा सकेंगे।

एक-दो उदाहरणों से मैं अपनी बात स्पष्ट करूंगा।

(1) **पाठ्यक्रम रचना**—इस समय औपचारिक प्रणाली में हम केन्द्रीय ढंग से पाठ्यक्रम तैयार करते हैं। स्कूल के स्तर पर **एन० सी०ई०आर० टी०** राष्ट्रीय पैमाने पर पाठ्यक्रम तैयार करती है, राज्यों में उन्हें अपनाया जाता है, और फिर सभी स्कूलों में अमल के लिए भेज दिया जाता है। विश्वविद्यालय स्तर पर हम विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम तैयार कराते हैं तथा फिर कालेजों से उनका उपयोग करने को कहते हैं। अनौपचारिक-शिक्षा में यह तरीका काम नहीं आएगा, क्योंकि स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार पाठ्यक्रम तैयार करने पड़ेंगे, शिक्षार्थियों की तात्कालिक आवश्यकताएं हल करनी पड़ेंगी, और खुद शिक्षार्थी अपने पाठ्यक्रम तैयार करने में सक्रिय भूमिका अदा करेंगे। तब अनौपचारिक-

शिक्षा में किसी केन्द्रीय स्थान पर पाठ्यक्रम तैयार नहीं होंगे, बल्कि यह विद्या स्थानीय स्तर पर हस्तांतरित कर दी जाएगी। शिक्षक को बने-बनाए पाठ्यक्रम न देकर उसे स्वयं शिक्षार्थियों के साथ मिलकर पाठ्यक्रम तैयार करना सिखाया जाएगा। इस तरह के विचार स्वीकृत होने लगें, और कार्यकर्ता तथा जनता इनसे परिचित हो जाये, तो इस अनुभव तथा विशेषज्ञता का उपयोग औपचारिक क्षेत्र में भी, स्कूल तथा विश्वविद्यालय दोनों स्तरों पर, किया जा सकता है।

(2) **सक्रियता, चिंतन और समस्या-समाधान**—औपचारिक-शिक्षा की एक बड़ी कमजोरी यह है कि छात्रों को निष्क्रिय भूमिका दी जाती है तथा उनसे केवल याद करके दोहरा देने की अपेक्षा की जाती है। छात्र स्वयं सोचें इसकी या श्रम, विकास अथवा समस्या-समाधान के आधार पर गतिविधियां शुरू करने की कोई कोशिश नहीं होती। इसीलिए छात्र-शिक्षक संबंध असंतोषजनक रहते हैं जैसा कि पाउलो फ्रेरे ने बताया है, औपचारिक प्रणाली में—

1. शिक्षक पढ़ाता है और छात्र पढ़ता है।
2. शिक्षक सर्वज्ञ है जबकि छात्र अज्ञ।
3. शिक्षक सोचता है और छात्र सोचे जाते हैं।
4. शिक्षक बोलता है और छात्र दब्बू होकर सुनते हैं।
5. शिक्षक अनुशासन रखता है और छात्र अनुशासित होते हैं।
6. शिक्षक चुनता है तथा अपना चयन सोचता है, छात्र आज्ञापालन करते हैं।
7. शिक्षक कर्म करता है और छात्रों को भ्रम होता है कि शिक्षक के कर्म के माध्यम से वे सक्रिय हैं।
8. शिक्षक कार्यक्रम की विषयवस्तु चुनता है, और छात्र (जिनसे परामर्श नहीं किया गया) उसे अपना लेते हैं।
9. शिक्षक ज्ञानाधिकार को अपना पेशेवर अधिकार व क्षमता समझ लेता है, और इसे छात्रों की स्वतंत्रता के विरुद्ध रख देता है।
10. शिक्षक अध्ययन प्रक्रिया का कर्ता होता है जबकि छात्र महज कर्म।[1]

जैसा कि पहले संकेत किया गया, अनौपचारिक-शिक्षा का कार्यक्रम बिल्कुल नये अंदाज से शुरू करना होगा, जिसमें शिक्षक की भूमिका अनुसंधान की प्रक्रिया में एक सहायक या सहयोगी की होगी। कार्यक्रम में श्रम तथा विकास पर आधारित पर्याप्त गतिविधि रहेगी, और छात्र समस्या-समाधान में गहरी रुचि रखेंगे। एक बार ऐसी पद्धति का विकास, प्रचार और प्रतिष्ठार्जन हो जाने पर उन्हें काफी

1. पाउलो फ्रेरे, पैडॉगॉजी ऑफ द ऑप्रेस्ड, पेंग्विन बुक्स लि. हार्मंड्सवर्थ मिडिलसेक्स, इंग्लैण्ड, 1972, पृष्ठ 46-47.

आसानी से औपचारिक स्कूल पर भी लागू किया जा सकेगा।

इस तरह के अनेक अन्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर इसकी शायद जरूरत नहीं है। पहले जो कहा जा चुका है, उससे यह मुद्दा भली भांति स्पष्ट हो गया होगा कि अनौपचारिक-शिक्षा के लिए आवश्यक नयी विधियां औपचारिक-शिक्षा के लिए भी अर्थवान हैं तथा आगे चलकर उन्हें औपचारिक क्षेत्र में भी लागू किया जा सकता है। लेकिन हमें एक वास्तविक खतरे से आगाह रहना होगा, और वह है, यह संभावना कि गहरी जड़ें जमाए बैठा औपचारिक क्षेत्र नवप्रसूत अनौपचारिक क्षेत्र पर भी अपनी छाया डाल सकता है और उसे मुक्त विकास का अवसर देने के बजाय खुद अनौपचारिक कार्यक्रमों पर अपनी कठोर पद्धतियां आरोपित कर सकता है। यह खतरा इसलिए अधिक है क्योंकि लोगों का खासकर शिक्षकों और शिक्षा प्रशासकों का दिमाग स्कूल-बद्ध धारणाओं से, तथा उसके तमाम रूप, रीति-रिवाज, सिद्धान्त और शब्दावली से मुक्त होने में कठिनाई अनुभव करेगा। मैंने यह भी देखा है कि स्कूल शिक्षक (और अनौपचारिक-शिक्षा कार्यक्रमों के वर्तमान कार्यकर्ताओं में वे ही बहुमत में हैं) अपनी अनौपचारिक कक्षाओं में औपचारिक स्कूल की पद्धतियां ही खींच ले जाते हैं, जिससे वे विफलता ही अधिक पाते हैं। यदि ये प्रवृत्तियां निरंकुश जारी रहीं तो हम न सिर्फ औपचारिक स्कूल के सुधार में अनौपचारिक-शिक्षा के प्रयोग की संभावना से हाथ धो बैठेंगे, प्रत्युत हम स्वयं अनौपचारिक कार्यक्रमों को ही औपचारिकता प्रदान करने लगेंगे। अतः इस मामले में सतर्कता या सावधानी की कोई सीमा नहीं है।

सेतु और स्थान (हैसियत)

पहले यह प्रस्तावित किया जा चुका है कि औपचारिक तथा अनौपचारिक-शिक्षा प्रणालियों को समांतर धाराओं के रूप में नहीं, बल्कि **समाज के लिए शिक्षा व्यवस्था** की एकल एकीकृत प्रणाली में विकसित किया जाय। इसके निहितार्थ दो तरह के हैं: (1) एक धारा से दूसरी में पहुंचने के लिए पर्याप्त सेतु होने चाहिए; (2) दोनों धाराओं का स्थान (हैसियत) समान हो।

अनौपचारिक से औपचारिक तथा औपचारिक से अनौपचारिक-शिक्षा में आने-जाने की व्यवस्था के लिए कई कदम उठाने होंगे। इस समय औपचारिक-शिक्षा प्रणाली में प्रवेश का बिन्दु एक ही होता है (कक्षा 1), और आगे चलकर भी प्रवेशद्वार सीमित हैं। आम तौर पर ये प्रवेशद्वार दसवीं या ग्यारहवीं कक्षा, बारहवीं कक्षा और प्रथम तथा द्वितीय डिग्री की अंतिम परीक्षाओं के समांतर मिलते हैं। यदि कोई व्यक्ति निजी कारणों से इस प्रणाली में किसी स्तर पर अलग हो जाय, तो उसके सामने तीन कठिनाइयां आती हैं—

(1) उसका स्थान (पद-सम्मान) गिर जाता है और वह 'ड्रापआउट' हो

जाता है; (2) वह चाहे तब भी प्रायः उसे अध्ययन जारी रखने के लिए औपचारिक-शिक्षा कार्यक्रम सुलभ नहीं होते; और (3) बाद में वह वापस औपचारिक प्रणाली में नहीं आ सकता।

अतएव निम्नलिखित सुधार आवश्यक हैं—

(1) औपचारिक-शिक्षा प्रणाली बहुबिंदु प्रवेश प्रणाली अपनाये; कोई व्यक्ति यदि अपेक्षित योग्यता साबित कर सके तो किसी भी स्तर पर प्रवेश लेने की अनुमति रहे।

(2) अनौपचारिक-शिक्षा कार्यक्रम उन सभी व्यक्तियों को उपलब्ध रहे जो किसी स्तर पर औपचारिक प्रणाला से अलग हो गये थे, और अब शिक्षा जारी रखना चाहते हैं। वस्तुतः सामाजिक लक्ष्य यह होना चाहिए कि अनौपचारिक-शिक्षा कार्यक्रम इतने बड़े पैमाने पर तथा इतने वैविध्य में सुलभ हों कि जो भी चाहे उसे सीखने का अवसर मिले।

(3) औपचारिक प्रणाली में होने वाले सभी इम्तहानों में प्राइवेट छात्रों को बैठने की अनुमति दी जाय जिन्होंने बाहर रहते हुए किसी भी तरह से तैयारी की हो।

इस तरह की पद्धति अपनाने पर स्पष्ट देखा जा सकता है कि 'ड्रापआउट' नाम की चीज खत्म हो जाएगी। जब कोई व्यक्ति औपचारिक प्रणाली से अलग हटता है तो वह 'ड्रापआउट' नहीं होता : वह केवल औपचारिक प्रणाली की अनौपचारिक प्रणाली अपना रहा होता है, और वह जब चाहे, औपचारिक प्रणाली में पुनः आ सकता है। अतः व्यक्ति अपनी सुविधा से दोनों प्रणालियों में आ-जा सकेगा।

अनौपचारिक कार्यक्रमों को समान हैसियत या दर्जा देने की समस्या अधिक कठिन है। सबसे अहम् सवाल है दृष्टिकोण का। पिछले सौ वर्ष में हम स्कूल को अध्ययन का **एकमात्र** केन्द्र मानने के आदि हो चुके हैं, और जब अन्य विकल्प मिलते हैं तब भी हम स्कूल को ही 'असली चीज़' मानते हैं तथा अन्य माध्यमों को उसकी घटिया नकल मात्र। इन्हीं दृष्टिकोणों के कारण हम औपचारिक स्कूल के पाठ्यक्रम को बढ़ा-चढ़ाकर तथा अनौपचारिक कार्यक्रम को हेय समझकर देखते हैं, भले ही दोनों पाठ्यक्रमों में समान प्रमाणीकरण तथा विषय-वस्तु हो। मसलन, कालेज में पढ़कर डिग्री पाने वाले स्नातक को प्राइवेट परीक्षा से पास स्नातक से बढ़िया माना जाता है। हमें ये नज़रिये छोड़ने होंगे तथा व्यक्ति की योग्यता उसके वास्तविक करतब से परखनी होगी, न कि वह किस धारा में शिक्षित हुआ है इस बात से। बल्कि होना तो यह चाहिए कि अनौपचारिक माध्यमों से सीखने वालों को अधिक सम्मान मिले, क्योंकि उन्होंने अधिक आत्मनिर्भरता तथा पहलकदमी के गुण दिखाये हैं।

20H97

हैसियत में अंतर इस कारण आते हैं कि हम उदारवादी शिक्षा (जो कि औपचारिक प्रणाली में प्राप्त होती है) को बढ़ा-चढ़ाकर आंकते हैं जबकि पेशेगत या व्यवसायी शिक्षा को (जो अधिकतर अनौपचारिक क्षेत्र में मिलती है) कम मूल्यवान मानते हैं और उससे सौतेला बर्ताव करते हैं। हम बौद्धिक श्रम की ओर निगाह 'उठाते' हैं और शारीरिक श्रम पर नजर डालते हैं। इस तरह कश्मीर के खूबसूरत गलीचों या बनारस की मनोहर साड़ियों के बुनकर, जिनका हुनर बी. ए., एम. ए. या पी-एच. डी. याफ्ता लोगों से बहुत ऊँचा है, औपचारिक प्रणाली में वह सम्मान या समता नहीं पाते, तथा बाजार में उनके श्रम का मूल्य सफेदपोशों की बहुत कम योग्यता वाले श्रम की तुलना में बहुत कम मिलता है। कोई कारण नहीं है कि अनौपचारिक-शिक्षा के इन पेशेगत कार्यक्रमों की शिक्षा को औपचारिक प्रणाली में भी वही सम्मान न मिले, कोई कारण नहीं है कि इस प्रकार के शिक्षितजनों को औपचारिक प्रणाली में वरिष्ठ शिक्षक का पद न दिया जाए, उन्हें डिग्री न दी जाए या कि उनमें जन-सम्मान और तुलनात्मक वेतन में कोताही की जाए।

औपचारिक प्रमाणपत्र के होने न होने से ही शायद हैसियत में सबसे अधिक अंतर पैदा होते हैं, जो कि शिक्षा को रोजगार से जोड़ता है। इस औपचारिक-शिक्षा को इस तरह की उपलब्धियों का प्रमाणपत्र बांटने का अधिकार प्राप्त है। और वह औपचारिक धारा में पढ़े छात्रों को ही अधिकतर प्रमाणपत्र बांटती है। दूसरे इस तरह के प्रमाणपत्र का संबंध संगठित क्षेत्र में उपलब्ध नौकरियों से है। और सरकारी या प्राइवेट, सभी तरह के मालिक इस तरह के प्रमाणपत्र को चयन का मुख्य आधार बनाते हैं। इन परिस्थितियों का समवेत प्रभाव यह हुआ है कि औपचारिक स्कूल की शिक्षा उपलब्धि के प्रमाणपत्रों से जुड़ गयी है, जिन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा सुलभ है और इनका सम्बन्ध संगठित क्षेत्रों में बेहतर वेतन वाली तथा अधिक सुरक्षित नौकरियों से हो गया है। इसके विपरीत अनौपचारिक धारा को कोई प्रमाणपत्र सुलभ नहीं है (यदि है तो उसकी विशेष प्रतिष्ठा नहीं) और उसका संबंध असंगठित क्षेत्र की कम वेतन वाली तथा आरक्षित नौकरियों से है। इसलिए एक मत यह है कि जब तक यह स्थिति नहीं बदलती, अनौपचारिक-शिक्षा को प्रमाणपत्र से नहीं जोड़ा जाता और ये प्रमाणपत्र अच्छी नौकरी नहीं दिलाते, तब तक उसे औपचारिक-शिक्षा के बराबर का दर्जा नहीं मिलेगा।

इस प्रसंग में कई विकल्प प्रस्तावित हुए हैं, खासकर औपचारिक एवं अनौपचारिक माध्यमों को समान दर्जा दिलाने की दृष्टि से।

(1) शिक्षाविदों के एक वर्ग ने सुझाव दिया है कि व्यक्तिगत प्रमाणपत्र देने की प्रथा ही समाप्त कर दी जाय, तथा राज्य भी किसी प्रकार की डिग्री, डिप्लोमा या प्रमाणपत्र न बांटे, तब समाज स्वय उस संस्था या उन व्यक्तियों के

आधार पर, जिनके यहां शिक्षा ली गयी है, या स्वयं उस व्यक्ति के करतब के आधार पर व्यक्तिगत उपलब्धियों को आंकेगा। अनौपचारिक-शिक्षा के अनेक कार्यक्रमों में आजकल यही विधि अपनायी जा रही है, अतः औपचारिक प्रणाली में भी यह तरीका अपनाया जा सकता है। यह प्रस्ताव आकर्षक तो है पर व्यावहारिक शायद न हो। जिन छोटे समाजों में हर व्यक्ति एक-दूसरे को जानता है और अपेक्षित कौशल प्रायः सरल किस्म के हों, वहां यह तरीका शायद सफल हो जाय। पर बड़े तथा जटिल आधुनिक समाजों में यह निषेधात्मक समाधान कारगर होगा, इसमें शक है।

(2) वैकल्पिक सुझाव यह है कि प्रमाणपत्र की प्रथा रहे, पर केवल औपचारिक प्रणाली को प्रमाणपत्र देने का एकाधिकार न रहे बल्कि सभी इच्छुक संस्थाओं एवं व्यक्तियों को ऐसे प्रमाणपत्र देने का अधिकार रहे। समझा जाता है कि इस तरह की प्रतिस्पर्धात्मक प्रणाली से औपचारिक या अनौपचारिक सभी तरह के शिक्षा कार्यक्रमों पर समुचित ध्यान जायेगा, तथा संस्थाओं या व्यक्तियों की देन – शिक्षितों — के करतब के आधार पर जनता शीघ्र ही उनके दिये प्रमाणपत्रों का मूल्य समझ जाएगी। यह सुझाव पहले से भी अधिक असन्तोषजनक है। इसमें प्रमाणपत्र बांटने वाली संस्थाओं और व्यक्तियों की बाढ़ आ जाएगी, जिसमें जनता को मदद के बजाय मतिभ्रम मिलेगा। यही नहीं, इनमें से कई संस्थाओं में शिक्षा देने की क्षमता ही न होगी, तथा वे भोलेभाले लोगों को ठगेंगी या समाज को नुकसान पहुंचाएंगी। यह तर्क भी है कि ज्योंही औपचारिक संस्थाएं प्रमाणपत्र देने लगेंगी उनकी साख इतनी अधिक रहेगी कि अन्य प्रमाणपत्रों की पूछ भी न होगी, तथा दोनों प्रणालियों की हैसियतों का मौजूदा वैषम्य जारी रहेगा। उदाहरणार्थ, आज भी स्कूल के स्तर पर कोई प्रमाणपत्र एकाधिकार नहीं है, सिर्फ डिग्री देने में विश्वविद्यालय स्तर पर ऐसा है। पर स्कूल स्तर के प्रमाणपत्र देने के लिए बहुत अधिक एजेंसियां सामने नहीं आयी हैं, और जो हैं भी उनकी साख औपचारिक प्रणाली जितनी न तो है, न होगी। दूसरे शब्दों में, यह अराजक प्रस्ताव हैसियतों का फर्क खत्म किए बगैर नयी-नयी समस्याएं और पैदा कर देगा।

(3) तीसरा विकल्प यह है कि व्यक्तिगत प्रमाणपत्र की प्रथा जारी रहे, और यह अधिकार मात्र औपचारिक प्रणाली को न देकर उस नयी स्वीकृत प्रणाली को रहे जिसमें आकस्मिक, अनौपचारिक, और औपचारिक, तीनों धाराएं समाहित होंगी। और विभिन्न किस्म की सभी उपलब्धियों को ऐसे प्रमाणपत्र दिए जायं, भले ही वे औपचारिक, अनौपचारिक या आकस्मिक में से किसी भी माध्यम में हासिल की गयी हों। किसी भी एक संस्था को प्रमाणपत्र देने का एकाधिकार न दिया जाय। बल्कि यह अधिकार सभी सुसज्जित संस्थाओं को रहे, जो अपने-

अपने क्षेत्रों में अधिकार रखें तथा यह अधिकार-दान अधिक से अधिक विकेन्द्रित तथा व्यापक आधार पर किया जाए, ऐसी नीति रहे। इस प्रकार के सर्वांगीण सुधार से प्रमाणपत्र की प्रथा समन्वित और विश्वसनीय बन सकेगी, तथा इससे सभी शिक्षा-प्रणालियों को समान दर्जा मिलेगा।

लेकिन यह अन्तिम प्रस्ताव भी सुखद नहीं है, तथा समस्या का वास्तविक समाधान किसी तरह के प्रमाणपत्र देकर अनौपचारिक-शिक्षा को रोजगार से जोड़ देने में शायद नहीं है, बल्कि समाधान यह है कि औपचारिक या अनौपचारिक सभी प्रकार की शिक्षा को रोजगार से जुदा कर दिया जाए। हम यह न भूलें कि रोजगार और औपचारिक-शिक्षा के बीच वर्तमान रिश्ते बहुत स्वस्थ नहीं हैं। सारे शिक्षा जगत पर वे छाये हुए हैं, शिक्षा को रोजी-रोटी मात्र का साधन बना रहे हैं, और निजी-सामाजिक या सांस्कृतिक विकास जैसे अन्य शैक्षिक लक्ष्यों को ताक पर रख देते हैं। हमारा सौभाग्य है कि अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम में प्रभुसत्ता इन्हीं बुनियादी लक्ष्यों को प्राप्त है, जो कि रोजगार से अगर जुड़ती भी हैं तो नाम-मात्र को। अनौपचारिक-शिक्षा को प्रमाणपत्रों के जरिए रोजगार से जोड़ने की बात सोचते समय हमें ध्यान रहे कि अनौपचारिक-शिक्षा अपना मूल शैक्षिक चरित्र न खो दे। हमें कोशिश तो यह करनी चाहिए कि औपचारिक-शिक्षा पर भी रोजगार के ख्याल कम हावी हों। कुल मिलाकर हमें शिक्षा को रोजगार (जो कि हर व्यक्ति का आर्थिक अधिकार है) से जुदा करने की दिशा में बढ़ना चाहिए ताकि शिक्षा (आकस्मिक, अनौपचारिक या औपचारिक) मनुष्य को अपने जीवन और पेशे के लिए तैयार करने की अपनी भूमिका निभा सके।

तीसरा अध्याय

कार्यक्रम, संगठन और क्रियान्वयन

इस अन्तिम अध्याय में हम भारत के लिए जरूरी अनौपचारिक-शिक्षा के विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों, और उनकी प्राथमिकताओं, उनके संगठन की समस्याओं, तथा उनके अनवरत एवं पुरअसर क्रियान्वयन के लिए जरूरी कदमों का विवेचन करेंगे।

अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम अनन्त हो सकते हैं, जिन्हें मोटे तौर पर निम्नलिखित विभागों में बांटा जा सकता है :

(1) ऐसे कार्यक्रम जिनका मुख्य उद्देश्य औपचारिक-शिक्षा के क्षेत्र को विस्तृत करना है, मसलन स्कूल-पूर्व बच्चे के लिए, प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनीकरण करने के लिए और विश्वविद्यालय तथा माध्यमिक स्तरों पर अंशकालिक एवं स्वकालिक साधनों के विकास के लिए कार्यक्रम,
(2) अनौपचारिक-शिक्षा के परंपरागत कार्यक्रमों का आधुनिक विवरण,
(3) अनौपचारिक-शिक्षा के आधुनिक कार्यक्रमों का विकास,
(4) विशेष श्रेणियों के लोगों के लिए अनौपचारिक-शिक्षा कार्यक्रमों का विकास मसलन
  (क) स्कूल-बाह्य युवजन, 15-25 वर्ष आयु के,
  (ख) वयस्क या प्रौढ़,
  (ग) स्त्रियां, और
  (घ) उदीयमान नेतृत्व।

प्रथम तीन श्रेणियां इस समस्या की विषयवस्तु की दृष्टि से बनी हैं, जबकि अन्तिम श्रेणी शिक्षार्थियों की दृष्टि से। इन दोनों दृष्टिकोणों में काफी कुछ समानताएं हैं पर फिर भी उन पर अलग-अलग विचार करना समीचीन होगा।

औपचारिक-शिक्षा के क्षेत्र का विस्तार

जैसा कि सभी जानते हैं, औपचारिक-शिक्षा का क्षेत्र अभी बहुत सीमित है, उसमें चूंकि पूर्णकालिक हाजिरी अनिवार्य है, अतः अधिकांश कामगार उससे बाहर

रहते हैं, और जो गरीब जन इस सुविधा के उपभोग में आवश्यक खर्च नहीं उठा सकते, वे भी बाहर रह जाते हैं। चूंकि औपचारिक-शिक्षा खर्चीली होती है, इसलिए हम सभी लोगों को इस शिक्षा प्रणाली में समाहित नहीं कर सकते। सवाल सिर्फ पैसे का ही नहीं है, क्योंकि औपचारिक-शिक्षा श्रम और शिक्षा का विभाजन करके चलती है, अतः उसमें सभी कामगार नहीं आ सकते न ही वह आजीवन शिक्षा दे सकती है। अनौपचारिक-शिक्षा को इसी दुविधा के बिन्दु पर महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है। यह औपचारिक-शिक्षा के क्षेत्र को कम खर्च और कारगर ढंग से विस्तार देने में सहायक हो सकती है।

(1) स्कूल-पूर्व स्तर पर हम उस आयु समूह के लगभग दो प्रतिशत बच्चे ले पाते हैं। स्कूल-पूर्व औपचारिक-शिक्षा इतनी खर्चीली है कि आने वाले वर्षों में इसका विशेष विस्तार संभव नहीं है। लेकिन महिलाओं, धन तथा सामग्री के सामाजिक संसाधनों को संगठित करके अनौपचारिक स्कूल-पूर्व शिक्षा बहुत बड़े अनुपात में बच्चों को प्रदान की जा सकती है, जबकि परंपरागत औपचारिक पद्धतियों से वह कभी संभव नहीं होगी। इन कार्यक्रमों का सविस्तार विवेचन परिशिष्ट 2 में मिलेगा।

(2) प्राथमिक स्तर पर 6-14 आयु के सभी बच्चों को मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा देना हमारा संवैधानिक दायित्व है। लेकिन हम अब तक 6-11 आयु के केवल 86 प्रतिशत और 11-14 आयु के केवल 36 प्रतिशत बच्चों को भर्ती करा सके हैं। ये अखिल भारतीय औसतांक हैं जबकि अनेक भागों में भर्ती दर इससे भी कम है। मौजूदा औपचारिक-शिक्षा प्रणाली के आधार पर कई वर्षों तक सार्वजनीन औपचारिक-शिक्षा दिलाया जाना असंभव होगा, क्योंकि बहुत से बच्चे घर में या बाहर कुछ काम करने की बाध्यता में स्कूल से निकल जाते हैं। अनौपचारिक तरीकों से ऐसे बच्चों को अच्छा अंशकालिक शिक्षण मिल सकता है, बर्बादी कम हो सकती है और लगभग 10 वर्ष के भीतर 6-14 वर्ष के समूह को कम खर्च में सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा मुहैया करायी जा सकती है।

प्राथमिक स्तर पर अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम में, जिसमें 6-14 वर्ष के स्कूल-बाह्य बच्चे आ सकें, नीचे लिखे तत्व होंगे :

(क) बहुबिंदु प्रवेश प्रणाली,
(ख) 9-14 वर्ष के सभी बच्चों को अंशकालिक शिक्षा का प्रावधान (वे बच्चे जो स्कूल न जा सके या स्कूल छोड़ने को बाध्य हुए) कम से कम 18-24 महीने के लिए, ताकि वे कामचलाऊ साक्षरता या कक्षा 5 पास करने लायक हो जायें, और
(ग) 11-14 की आयु के बच्चों के लिए, जो कक्षा 5 पूरी कर चुके हों और जो आगे पूर्णकालिक पढ़ाई करने में असमर्थ हों, अल्पकालिक

शिक्षा का प्रावधान ।

इन कार्यक्रमों की तफसील परिशिष्ट 3 में मिलेगी।

(3) इस समय 14-18 आयु के केवल 20 प्रतिशत बच्चे विश्वविद्यालयों और कालेजों में पढ़ रहे हैं। ऐसे कई युवजन और प्रौढ़ भी हैं जो माध्यमिक एवं विश्वविद्यालयी शिक्षा तो चाहते हैं पर पूरी तरह से पूर्णकालिक संस्था में नहीं जा सकते क्योंकि उन्हें कमाई भी करनी पड़ती है। इन सामाजिक समुदायों की जरूरतों के लिए माध्यमिक एवं विश्वविद्यालय स्तर पर अनौपचारिक-शिक्षा माध्यमों का विकास, शिक्षा आयोग (1964-66) की सिफारिशों के आधार पर हो सकता है :

(क) बोर्ड और विश्वविद्यालयों के सभी इम्तहानों में प्राइवेट छात्रों को इजाजत रहे,

(ख) जहां कहीं मांग हो वहां माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा के अंशकालिक पाठ्यक्रम खोले जायें,

(ग) माध्यमिक स्तर पर बड़े पैमाने पर पत्राचार पाठ्यक्रमों को प्रोत्साहन दिया जाए। विश्वविद्यालय स्तर पर भी बचत और सामाजिक न्याय के आधार पर इस कार्यक्रम को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। कुछ विश्वविद्यालय हिन्दी या अंग्रेजी माध्यम से राष्ट्रीय स्तर पर ऐसे पाठ्यक्रम शुरू करें, और प्रत्येक क्षेत्र में कम से कम एक विश्वविद्यालय स्थानीय भाषा के माध्यम से उच्चतर शिक्षा प्रदान करे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि अनौपचारिक-शिक्षा हमें स्कूल-पूर्व शिक्षा के विस्तार, प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण, और कामगारों को जो कि पूर्णकालिक संस्थाओं में नहीं जा सकते, माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा देने में सहायक हो सकती है। ये कोई मामूली उपलब्धियां नहीं हैं।

अनौपचारिक-शिक्षा के परंपरागत कार्यक्रमों का आधुनिकीकरण

15-25 वर्ष के युवजनों या प्रौढ़ों के लिए अनौपचारिक-शिक्षा कार्यक्रम बनाते समय, औपचारिक-शिक्षा को अंशकालिक अथवा स्वाध्याय के आधार पर विस्तार देने के कार्यक्रम इस समस्या का मात्र एक एवं अपेक्षाकृत छोटा पहलू है। 15-25 वर्ष आयु के अधिकांश स्कूल बाह्य लोग तथा प्रौढ़ जन आज आकस्मिक शिक्षण और अनौपचारिक परंपरागत कार्यक्रमों से शिक्षा पा रहे हैं, और सामाजिक रूपांतरण में जल्दी करने के लिए उनके आकस्मिक शिक्षण का सुधार एवं अनौपचारिक कार्यक्रमों का आधुनिकीकरण बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य होगा। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में चुनिंदा चंद लोगों की औपचारिक-शिक्षा और अवाम की अनौपचारिक-शिक्षा, दोनों ही पारंपरिक तरीके की थीं। पिछले 175 वर्ष में चंद

चुनिंदा लोगों की औपचारिक-शिक्षा आधुनिक हो गयी, तथा उससे उसका फायदा पाने वाले विशिष्ट वर्ग भी आधुनिक बन गये। इसके विपरीत जनता के लिए अनौपचारिक-शिक्षा (तथा आकस्मिक-शिक्षा) परंपरागत रूप में ही चल रही है। इस कारण अवाम आज भी पुराने जमाने की परंपरागत जिन्दगी बिता रहे हैं। यदि हम पूरे समाज को आधुनिक बनाना चाहते हैं तो हमें (क) आकस्मिक-शिक्षा का सुधार, (ख) अनौपचारिक-शिक्षा के इन परंपरागत कार्यक्रमों का आधुनिकीकरण, और (ग) जनता एवं देश की आशा-आकांक्षाओं के अनुरूप अनौपचारिक-शिक्षा के नये-नये कार्यक्रमों का समारंभ करना होगा। यह समस्या गुण और परिभाषा दोनों की है, लेकिन इसके गुणात्मक पहलू ज़ाहिर ही अधिक महत्व के हैं।

इस दृष्टि से कई कदम उठाने होंगे। इनमें से कुछ अधिक महत्वपूर्ण कदम यहां बताये जा रहे हैं :

(1) **सर्वेक्षण** : अनौपचारिक-शिक्षा के परंपरागत रूप अत्यंत विविध हैं और उनकी व्याप्ति हमारे अनुमान से कहीं अधिक है। लेकिन दुर्भाग्य से उनके बारे में जानकारी बहुत कम है।

भारत जैसे देश में निरक्षरता-उन्मूलन अनौपचारिक-शिक्षा का एक बहुत महत्वपूर्ण कार्यक्रम है और उसकी प्राथमिकता एवं महत्ता बहुत अधिक है। इस बारे में शायद ही कोई मतभेद हो। इसलिए मुख्य सवाल यह है कि इस कार्यक्रम को क्रियान्वित कैसे करें, संगठित कैसे करें।

इसके लिए चार तरीके संभव हैं, जिनमें से तीन की सिफारिश शिक्षा-आयोग (1964-66) ने की है :

(i) **सामूहिक तरीक़ा** : एक समयबद्ध विशिष्ट कार्यक्रम के अन्तर्गत निरक्षरता उन्मूलन को जन-आंदोलन बनाना पहला तरीका है। यदि दस बरस में भी यह लक्ष्य पूरा करना हो तो प्रतिवर्ष साक्षर किये जाने वालों की संख्या बेइंतहा बड़ी होगी तथा इस समस्या का हल केवल सामूहिक तरीके से हो सकता है। जैसा कि शिक्षा आयोग ने बताया है, इसके लिए देश के सभी शिक्षित पुरुष-स्त्री एकत्र करके एक फौज-सी खड़ी करनी होगी ताकि निरक्षरता से लड़ सकें, और इस फौज का कारगर संगठन तथा उपयोग एक पुनर्नियोजित साक्षरता अभियान में हो सके। इस कार्यवाही की जिम्मेदारी प्रशासन तथा शिक्षा प्रणालियों पर नहीं छोड़ी जा सकती बल्कि राजनीतिक एवं सामाजिक नेतृवर्ग को यह भार उठाना पड़ेगा, और इसकी सफलता इसी नेतृवर्ग की प्रतिबद्धता, प्रयत्नशीलता तथा बलिदान पर निर्भर होगी, तथा इस पर भी कि प्रौढ़ों को किस हद तक साक्षरता के लिए प्रेरित किया जा सकता है और शिक्षित समाज किस हद तक स्वेच्छया एवं सोत्साह पढ़ाने को तैयार है। इस अभियान में शिक्षा प्रणाली को जबर्दस्त

कोशिश करनी पड़ेगी, तथा शिक्षकों एवं छात्रों पर इसका मुख्य बोझ आएगा। ज़ाहिर है कि इस कार्य में अपार प्रयत्न, संकल्प, अनुशासन और बलिदान देने होंगे जो कि आसान काम नहीं है। इन साधनों के बिना यदि अभियान चलाया गया तो वह आंकड़ेबाजी, अवांछनीय जोर-जुल्म, झूठे आंकड़ों, भ्रष्टाचार और ऐसे अन्य रोगों में खो जाएगा।

(ii) **चयनात्मक तरीका** : इसके विपरीत चयनात्मक तरीक़े का अर्थ है कुछ चुने हुए इलाकों में साक्षरता के कार्य का आयोजन करना (जहां पर प्राप्य संसाधनों के आधार पर यह कार्यक्रम बनाया जा सके) या उन चुनिंदा लोगों के समूहों में कार्य करना जो इस कार्यक्रम से लाभान्वित हों (मसलन, बांध-निर्माण) क्योंकि अभी तक उनका गहन एवं व्यापक अध्ययन नहीं हुआ है, ऐसा अध्ययन बड़े पैमाने पर किया जाय क्योंकि न केवल ये रूप सहस्रविध हैं, बल्कि अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न हैं तथा प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में इन रूपों का अलग से अध्ययन करना होगा।

(2) **व्यावसायिक पेशेगत रूप** : अनौपचारिक परंपरागत शिक्षा के अनेक रूप पेशे से जुड़े हैं और प्रायः वे असंगठित क्षेत्र में नौकरी के लिए कुशल या अर्ध-कुशल कामगार तैयार करते हैं। मसलन, अनौपचारिक अप्रेंटिस बन कर ही किसान खेती-बाड़ी सीखते हैं, राजगीर, दर्ज़ी या बुनकर अपने पेशे सीखते हैं, दाई इत्यादि ग्रामीण स्वास्थ्य-कार्यकर्ता अपना पेशा सीखती हैं, इत्यादि। वस्तुतः पेशेगत शिक्षण की औपचारिक प्रणालियां आधुनिक संगठित क्षेत्र में (जो कि अपेक्षाकृत छोटा है) नौकरा के लिए कुशल और अर्धकुशल व्यक्ति तैयार करती हैं जबकि असंगठित क्षेत्र (जो कि बहुत बड़ा है) के लिए कुशल एवं अर्धकुशल मजदूरों का प्रशिक्षण अनौपचारिक क्षेत्र में ही होता है। जरूरी यह है कि हम अनौपचारिक-शिक्षा का बहुत बड़ा कार्यक्रम बनायें जिसके ज़रिये असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों के हुनर उन्नत हो सकें और उन्हें बेहतर सेवा या आमदनी के लिए बेहतर औज़ार दिये जा सकें। इन कार्यक्रमों के फ़ायदे ज़ाहिर हैं। लागत बहुत कम है, किसानों, बढ़ई, राजगीर या बुनकरों के लिए बने ऐसे कार्यक्रम औपचारिक प्रणाली की अपेक्षा बहुत अधिक उत्पादकता बढ़ा सकते हैं। हस्तशिल्पों के बारे में यही बात लागू होती है, जिसकी तारीफ़ दुनिया-भर में होती है तथा जिनसे हमें बहुमूल्य विदेशी मुद्रा मिलती है। दाई जैसे कर्मचारियों के प्रशिक्षण से ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत कम अतिरिक्त लागत से स्वास्थ्य सेवा का स्तर उठाया जा सकता है। अतः ये कार्यक्रम बहुत बड़े पैमाने पर तथा प्राथमिक स्तर पर विकसित किये जाने चाहिए।

(3) **सांस्कृतिक रूप** : तीसरा प्रश्न अनौपचारिक-शिक्षा के उन परंपरागत कार्यक्रमों से संबद्ध है जो सांस्कृतिक क्षेत्रों में पाये जाते हैं। संगीत, नृत्य,

चित्रकला, या शिल्प की परंपरागत सांस्कृतिक विधाएं सैकड़ों वर्ष पहले चरमोत्कर्ष पर पहुंच चुकी थीं, और अनौपचारिक-शिक्षा माध्यमों से ही आज तक उनका गौरवमय अस्तित्व है। संगीत और नृत्य के हमारे महान् घराने अनौपचारिक तरीकों से अपनी परम्परा का संरक्षण और प्रसार करते आ रहे हैं। अतीत में लोकनाट्य लोकशिक्षण का महान साधन था और आज भी ग्रामीण क्षेत्रों के सांस्कृतिक जीवन में उसका अप्रतिम स्थान है। **मधुबनी** पेंटिंग्ज़ अनौपचारिक माध्यमों से हमारी चित्रकला के जारी रहने का एक अच्छा उदाहरण है। सांस्कृतिक क्षेत्र में इस अनौपचारिक परंपरागत शिक्षा की समस्याएं उपर्युक्त पेशेगत शिक्षण से कुछ भिन्न हैं। यहां पर जोर आधुनिकीकरण पर उतना नहीं जितना कि हमारी महान परंपरा को सुरक्षित रखने तथा जनता में उसके प्रसार पर है। हम यह न भूलें कि हमारी परम्परा मूलतः एक सहभागिता वाली संस्कृति की रही है। आधुनिक औद्योगिक समाजों में एक तरह की सामूहिक, परोक्ष संस्कृति पनपी है, और हम पश्चिम से उसकी नकल करके अपने यहां लाना चाह रहे हैं। इसके परिणाम भयानक होंगे, और इस नीति पर चलने की कोई ज़रूरत नहीं है, खासकर तब जब स्वयं पश्चिम इन घटनाओं की कमज़ोरी समझने लगा है और सहभागिता की संस्कृति को पुनर्जीवित करना चाह रहा है।

(4) **सामान्य शिक्षा** : औपचारिक स्कूल से बाहर सामान्य शिक्षा हमारी मौखिक परम्परा पर आधारित अब भी जीवित अनौपचारिक परम्परागत माध्यमों और आकस्मिक शिक्षण माध्यमों से मिलती है। इन्हीं के ज़रिये एक औसत निरक्षर व्यक्ति विश्व-दृष्टि तथा धर्म, अपने समाज, अपनी सरकार एवं अन्य विषयों पर जानकारियां पाता है। इन्हीं के ज़रिये उसे धार्मिक विचार या अवधारणाएं मिलती हैं और व्यक्तिगत मामलों (स्वास्थ्य, रोग आदि), प्राकृतिक परिदृश्य या सामाजिक यथार्थ (जाति, स्त्रियों की भूमिका और हैसियत, अस्पृश्यता, सामाजिक शिष्टाचार, गरीब-अमीर या भूपति-काश्तकार जैसे सामाजिक वर्गों के बीच रिश्ते) इत्यादि के बारे में चालू जानकारियां या गलत जानकारियां और अन्धविश्वास अर्जित करता है। यही धारणाएं प्रत्येक व्यक्ति में समाज की चालू मूल्य-व्यवस्था प्रस्थापित करती हैं। औपचारिक स्कूल में शिक्षा पाने वाले व्यक्ति को सही वैज्ञानिक ज्ञान देने, शोषक-श्रेणीबद्ध-असमतापूर्ण सामाजिक यथार्थ में वास्तविक अन्तर्दृष्टि प्रदान करने, और मौजूदा समाज-व्यवस्था में प्रचलित मूल्यों से भिन्न अन्य वांछनीय मूल्यों की प्रस्थापना करने (मसलन, स्कूल में हम लिखा सकते हैं कि स्त्री-पुरुष बराबरी रखते हैं गोकि बाहर समाज में स्त्रियों को हेय बताया जाता हो)[1] की योजनाबद्ध कोशिश सम्भव है, लेकिन अनौपचारिक परम्परागत

1. खेद है कि हम औपचारिक-शिक्षा की इस क्षमता का पूरा उपयोग नहीं करते, शिक्षा में आवश्यक सुधार की यह बहुत ही महत्वपूर्ण दिशा है।

तथा आकस्मिक माध्यम के ज़रिये सामान्य शिक्षा केवल समरूपता और यथा-स्थिति की निरन्तरता को बल देती है। भारतीय समाज आज भी पारंपरिक और सामंती है तथा अभी भी वह अंधविश्वासों, अतार्किक भय तथा दक़ियानूस विचारों के चंगुल में है, जिससे विकास तथा आधुनिकीकरण अवरुद्ध होता है। मुख्य कारण यह है कि अधिकांश लोग परंपरागत अनौपचारिक तथा आकस्मिक माध्यमों से शिक्षित होकर यथास्थिति स्वीकार कर लेते हैं और अपनी हैसियत क़बूल कर लेते हैं। यही कारण है कि इन अनौपचारिक माध्यमों का आधुनिकी-करण फौरी तौर पर आवश्यक और महत्वपूर्ण है।

अनौपचारिक सामान्य शिक्षा के परंपरागत रूपों के आधुनिकीकरण के इस कार्यक्रम में तीन तत्वों पर जोर देना आवश्यक है। पहला है एक संयोज्य कर्तव्य, अर्थात् प्रत्येक नागरिक को आवश्यक चीज़ों के बारे में जानकारी प्रदान करना (मसलन संसार, देश, हमारे मुक्ति-संग्राम, परंपरा के विवेचन इत्यादि के बारे में मूल जानकारी देना), जो कि मौजूदा परंपरागत अनौपचारिक माध्यमों से नहीं मिलती। दूसरा है सुधारात्मक कार्य, अर्थात् मौजूदा अनौपचारिक माध्यमों में जीवित ग़लत सूचनाओं या अंधविश्वासों को दूर करना। विज्ञान की भूमिका यहीं पर आती है, क्योंकि वह अतार्किक भय मिटाने, अंधविश्वास दूर करने, भाग्यवाद पर अंकुश लगाने और आत्मनिर्भरता बढ़ाने में सहायक होता है। हमें आधुनिक विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के आधार पर अनौपचारिक माध्यम बनाने चाहिए, ताकि लोग व्यक्तिगत मामलों (यथा, स्वास्थ्य, रोग और उपचार, भोजन), प्राकृतिक पदार्थों (यथा, दूषण, उत्पादन बढ़ाने में विज्ञान के उपयोग, पेड़-पौधों के जीवन) और सामाजिक समस्याओं (यथा, आबादी का बढ़ना) के बारे में सही संदर्श पा सकें। तीसरा है रचनात्मक दायित्व, अर्थात् आधुनिकता और विकास में सहायक, शोषक तथा असमतापूर्ण सामाजिक यथार्थ की समुचित समझ पैदा करने वाले नये दृष्टिकोण और मूल्यों का विकास, और ऐसे नये समाज की रचना के लिए संघर्ष की प्रेरणा देना जो कि स्वतन्त्रता, समता, न्याय और व्यक्तिगत सम्मान पर आधारित हो। प्रकट है कि यह सबसे महत्वपूर्ण कार्य है क्योंकि यही तत्व शिक्षा को बन्धनकारी की बजाय मुक्तिदायक बना सकते हैं।

अनौपचारिक-शिक्षा के आधुनिक कार्यक्रमों का विकास

पेशेगत हुनर विकसित करने, सांस्कृतिक कार्यक्रमों के संरक्षण तथा प्रसार, और सामान्य शिक्षा में कुछेक संयोज्य सुधारात्मक एवं रचनात्मक दायित्व पूरे करने के लिए अनौपचारिक-शिक्षा के परंपरागत कार्यक्रमों का आधुनिकीकरण आवश्यक है, जैसा कि ऊपर बताया गया, पर मात्र यही पर्याप्त न होगा। हमें अनौपचारिक-शिक्षा के नये-नये रूप भी लाने होंगे, अंशतः इसलिए कि परंपरागत

रूपों को ऐसे पूरक चाहिए, पर मुख्यतः इसलिए कि अब अनेक आधुनिक संस्थाएं ऐसी उपलब्ध हैं जो अनौपचारिक-शिक्षा में प्रभावशाली ढंग से काम आ सकती हैं।

इस संदर्भ में कुछ ऐसे प्रयोगों का वर्णन उचित होगा जो इस समय किये जा रहे हैं, तथा शायद जिनमें कुछ परिष्कार और प्रसार की आवश्यकता है। मसलन, कृषि-विस्तार आधुनिक अनौपचारिक-शिक्षा का एक अच्छा कार्यक्रम है। छोटे परिवार का आदर्श प्रचारित करने और विवाहितों को अपना परिवार सीमित रखने की शिक्षा देने वाला परिवार नियोजन कार्यक्रम एक अन्य उदाहरण है। नागरिकता की शिक्षा (विभिन्न निकायों में लोकतांत्रिक निर्वाचन अनौपचारिक तरीकों से नागरिकता की शिक्षा देने वाला एक अच्छा उदाहरण है), भोजन तथा पाक-विद्या में सुधार, परिवेश की सफाई में सुधार, बच्चों की बेहतर परवरिश, अस्पृश्यता-निवारण इत्यादि अनेक क्षेत्रों में भी नये कार्यक्रमों की जरूरत है पर इन पर अभी तक काम नहीं हो पा रहा है।

आधुनिक अनौपचारिक-शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन जनसंचार व्यवस्था है। पर हम इसकी क्षमता का भी पूरा उपयोग नहीं कर रहे हैं। रेडियो आज प्रायः हर गांव में पहुंच चुका है और इसके शैक्षिक उपयोग को बढ़ाने की पर्याप्त संभावना है। फिल्म एक व्यापक और महत्वपूर्ण माध्यम है पर इसका शैक्षिक उपयोग अत्यन्त सीमित है, तथा शिक्षा की बजाय प्रायः कुशिक्षा ही देता है। टेलीविजन अभी आंख खोल रहा है। सभी बातों पर सोचने से लगता है कि इस समस्या का सूक्ष्म अध्ययन होना चाहिए तथा अनौपचारिक-शिक्षा में जनसंचार व्यवस्था के उपयोग के लिए एक गंभीर तथा अनवरत प्रयत्न होना चाहिए।

अनौपचारिक-शिक्षा के परंपरागत कार्यक्रमों (जिनको परंपरागत समाज के आम आकस्मिक-शिक्षण की मदद भी मिलती है) में तीन मुख्य कमजोरियां हैं :

(1) उनका लक्ष्य, यथास्थिति जारी रखना और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सामाजिक औक़ात पर रखना है।

(2) उनका आधार विज्ञान और प्रौद्योगिकी नहीं है, जिसके कारण वे पुराने ज़माने की दक़ियानूसी टेक्नालॉजी, धारणाओं और अंधविश्वासों को जारी रखने तथा परिवर्तन-प्रतिरोध का कारण बनते हैं।

(3) इसके अलावा, इन कार्यक्रमों के शिक्षक तथा छात्र दोनों ही परंपरा-वादी लोग हैं जो स्वयं जनसाधारण से निकले हैं तथा जो एक दूसरे को अपना ज्ञान, कौशल, तथा विश्वास देते हैं। यह ऐसा खेल है जिसमें अन्धे ही अन्धों को रास्ता दिखा रहे हैं।

हमें परंपरागत कार्यक्रमों के नवीकरण और अनौपचारिक-शिक्षा के नये कार्यक्रमों में विकास के जरिये इन कमजोरियों को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ होगा कि यदि हम परंपरागत कार्यक्रमों

के पूरक कार्यक्रम चलाकर तथा जहां जरूरी हो वहां सुधार करके अच्छा सामान्य शिक्षण प्रदान करें, और यदि हम अनौपचारिक सामान्य शिक्षा में एक अच्छी राजनीतिक विषयवस्तु रखें, तो पहली दो कमजोरियां दूर की जा सकेंगी। यह काम तब तक नहीं होगा जब तक कि हम शिक्षित समुदायों में से प्रतिबद्ध कार्यकर्ता न छांटें और स्वयं अशिक्षित सामाजिक समुदायों में से उन्हीं का नेतृवर्ग प्रशिक्षित न करें। यह कार्य तीसरी कमजोरी दूर करेगा।

कुछ विशेष कार्यक्रम

लोगों की कुछ विशेष श्रेणियां हैं जिन्हें अनौपचारिक-शिक्षा की विशेष जरूरत है। इनमें से हम चार महत्वपूर्ण श्रेणियों पर चर्चा करेंगे—

(1) स्कूल बाह्य युवजन 15-25 वर्ष आयु के, (2) प्रौढ़, (3) स्त्रियां, (4) उदीयमान नेतृवर्ग।

(1) 15-25 वर्ष आयु के स्कूल-बाह्य युवजन

15-25 आयु समूह के केवल 10 प्रतिशत युवजन आज माध्यमिक स्कूलों तथा कालजों में भर्ती हैं। समूचे राष्ट्र के प्रतीक 90 प्रतिशत युवजन इस समय किसी तरह की औपचारिक-शिक्षा नहीं पा सकते। स्कूल बाह्य युवजनों की इस विराट संख्या को अनौपचारिक-शिक्षा देने का महत्व स्वतः स्पष्ट है। इस समुदाय का आकार बड़ा है—कुल आबादी का लगभग 20 प्रतिशत। इसके सदस्य प्रायः सतर्क, जिज्ञासु, संवेदनशील और राष्ट्रजन-सेवा के ध्येय के प्रति प्रतिबद्ध होने में भावनात्मक सामर्थ्य वाले हैं। अतः शिक्षार्थी के रूप में यह एक समृद्ध और संभावनापूर्ण सामग्री है, जिसे बच्चों या प्रौढ़ों की अपेक्षा अधिक आसानी से ढाला जा सकता है। और भी महत्वपूर्ण बात यह है कि उनकी शिक्षा के कार्यक्रमों पर खर्च अपेक्षाकृत कम आयेगा (क्योंकि यह शिक्षण आवश्यक तौर पर अंशकालिक होगा) और इसके नतीजे फौरन एवं कारगर मिलेंगे, क्योंकि ये युवक पांच या दस वर्ष में समाज के सक्रिय एवं प्रभावशाली नागरिक बन जाएंगे। ये ऐसी महत्वपूर्ण उपलब्धियां हैं जिनकी उपेक्षा हमारे जैसे विकासशील देश नहीं कर सकते (क्योंकि समय कम है और साधन सीमित)।

इस आयु-समूह के लिए निम्नलिखित तत्वों से युक्त शिक्षा कार्यक्रम बनाना होगा :

पेशेगत हुनर में सुधार ताकि अधिक कमा सकें,
नागरिकता, या देश-समाज की समस्याओं की समझ,
सामान्य शिक्षण,
खेलकूद,
शौक और मनोरंजन,
स्वास्थ्य और परिवार नियोजन, और

समाज या देश-सेवा के कार्यक्रमों में शिरकत।

इसका अर्थ यह नहीं कि सभी युवजनों की इन सभी समस्याओं में रुचि होगी। पर मोटे तौर पर उनकी रुचियां इनमें आ जाएंगी। उनकी शिक्षा का पाठ्यक्रम इन तथा अन्य संबद्ध मामलों के मिश्रण से बनेगा, तथा इसकी सफलता मूलतः इस पर निर्भर होगी कि इस 'सम्मिश्रण' और इसके उपभोक्ता व्यक्तियों की क्षमता के बीच कैसा तालमेल रहता है।

गैर-छात्र युवजनों के इस समूह का शैक्षिक स्तर बहुत वैविध्यपूर्ण है। शहरी इलाकों में उनमें विश्वविद्यालय के स्नातक से लेकर निरक्षर लोग तक होंगे। ग्रामीण इलाकों में बहुत ही कम लोग माध्यमिक शिक्षा से निकले हुए होंगे, थोड़े से लोगों को प्राथमिक या माध्यमिक स्कूल-शिक्षा मिल चुकी होगी और अधिकांश लोग निरक्षर होंगे। अतः जाहिर है कि उनके लिए प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक के शिक्षा-कार्यक्रम तैयार करने होंगे। मोटे तौर पर ये कार्यक्रम अंशकालिक रहेंगे। पर कहीं-कहीं संक्षिप्त पूर्णकालिक पाठ्यक्रम भी फायदेमंद हो सकते हैं। इस कार्यक्रम के बारे में कुछ और तफसील परिशिष्ट 4 में मिलेगी।

(2) प्रौढ़

प्रौढ़ या अनवरत शिक्षण के कार्यक्रम बहुत महत्व रखते हैं, अंशतः इसलिए कि उनके नतीजे तत्काल मिलते हैं, और अंशतः इसलिए कि उनसे 6-14 वर्ष के बच्चों में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार तथा सुधार में सहायता मिलती है, और अंशतः इसलिए भी कि घर तथा समाज में उनसे आकस्मिक शिक्षा के सुधार में मदद मिलती है। मोटे तौर पर हम प्रौढ़-शिक्षण-कार्यक्रम को दो भागों में बांट सकते हैं : (1) उनका अनवरत शिक्षण जो कि प्राथमिक, माध्यमिक या उच्चतर शिक्षा पूरी कर चुके हैं, और (2) उन गरीब तथा सुविधाहीन समूहों का शिक्षण, जिसमें निरक्षरों को साक्षर करने के कार्यक्रम, तथा उससे भी आगे उन निरक्षरों को शिक्षा देने के कार्यक्रम शामिल हैं जो साक्षरता पाना ही न चाहें। जहां तक पहले समुदाय का संबंध है, उन्हें पहले ही संविधान-प्रदत्त न्यूनतम प्राथमिक शिक्षा मिल चुकी है। उनकी जरूरतें महत्वपूर्ण तो हैं, पर इसको प्राथमिकता बाद में ही मिलेगी, तथा इन पर यहां विचार नहीं किया जा रहा है। चूंकि माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षा पाये हुए लोगों को आगे शिक्षा देने का कार्य और भी बाद में आयेगा, अतः उन पर भी विचार नहीं किया जा रहा है। लेकिन दूसरी श्रेणी के समुदायों की शैक्षिक आवश्यकताओं को सर्वाधिक महत्व दिया जाना चाहिए। इस पर कुछ विस्तार से बात की जायेगी। लेकिन इसे रेखांकित कर देना जरूरी है कि जो बात यहां प्रौढ़ों के बारे में कही जा रही है, वही 15-25 आयु के स्कूल-बाह्य युवजनों की शिक्षा के लिए अनौपचारिक कार्यक्रमों पर भी लागू होगी।

हम साक्षरता को सबसे पहले लें। साक्षरता बहुत महत्वपूर्ण, खासकर इस-

लिए है कि उससे व्यक्ति आगे पढ़ने में आत्मनिर्भर होता है। सामाजिक दृष्टि से साक्षरता और भी जरूरी है क्योंकि एक पूर्णतः शिक्षित समाज हमारे जैसे अधिकतर निरक्षर समाज से गुणात्मक रूप में बहुत भिन्न होता है। लेकिन तीन शर्तें ध्यान में रहें। पहली यह कि मात्र साक्षरता पर्याप्त नहीं होती, उसके साथ पर्याप्त मात्रा में सामान्य, पेशेगत और सांस्कृतिक शिक्षण होना चाहिए, तथा आगे भी उच्चतर स्तर का वैसा ही शिक्षण सुलभ होना चाहिए। दूसरे, प्रौढ़ों का अनौपचारिक शिक्षण, साक्षरता पर बहुत ज्यादा जोर देकर शुरू न किया जाए। इस तरीके से प्रायः शिक्षार्थी पढ़ाई से विमुख हो जाते हैं। साक्षरता की शिक्षा तभी सफल होगी, जब साक्षर होने की इच्छा भी हो, जो कि ऐसी कुछ चीजें सीखने की इच्छा से भिन्न बात है जिनके लिए साक्षरता शायद अनिवार्य भी न हो और जब तक यह स्थिति न आये तब तक साक्षरता-शिक्षा पर ध्यान संकेन्द्रित करने से बचना चाहिए। तीसरे, यदि कभी-कभी यह स्थिति पैदा न हो सके, तब भी इस पर किसी को खिन्न नहीं होना है। साक्षरता के बगैर कुछ अनौपचारिक-शिक्षा दे देना बेहतर है, बनिस्बत इसके कि न तो साक्षरता मिले न अनौपचारिक-शिक्षा।

भारत जैसे देश में निरक्षरता का उन्मूलन अनौपचारिक-शिक्षा का बहुत अहम कार्यक्रम है और यह अत्यंत महत्व और प्राथमिकता का कार्य है। इस विषय में शायद ही कोई मतभेद हो। इसलिए मुख्य मसला है इस कार्यक्रम को कार्यरूप देने का : इसे किस प्रकार आयोजित किया जाय ?

इस क्षेत्र में चार तरीके अपनाये जा सकते हैं, जिनमें से तीन की सिफारिश शिक्षा आयोग (164-66) ने भी की थी।

(1) **सामूहिक तरीका** : पहला तरीका है समयबद्ध कार्यक्रम के अंतर्गत निरक्षरता उन्मूलित करने के लिए सामूहिक आंदोलन संगठित करना। यदि दस वर्ष में यह कार्य पूरा करना हो तो प्रतिवर्ष जितने लोगों को साक्षर बनाना होगा उनकी संख्या निहायत अधिक होगी, और इस समस्या का समाधान केवल सामूहिक तरीके से ही संभव है। जैसा कि शिक्षा आयोग ने कहा है, इसके लिए जरूरी होगा कि निरक्षरता से जूझने के लिए एक पूरी सेना खड़ी की जाये, और इस सेना या शक्ति का एक सुनियोजित साक्षरता अभियान के निमित्त कारगर संगठन और उपयोग करने के लिए देशभर के सभी शिक्षित पुरुषों और स्त्रियों को एकजुट किया जाए। यही नहीं, यह विराट कार्यक्रम सिर्फ प्रशासन और शिक्षा की प्रणालियों या व्यवस्थाओं के वश की चीज नहीं है। इसकी जिम्मेदारी स्वयं राजनीतिक तथा सामाजिक नेतृत्व को भी उठानी पड़ेगी। इसकी सफलता इसी नेतृत्व की प्रतिबद्धता पर, इस हेतु आवश्यक प्रयत्न और बलिदान के लिए उनकी तत्परता पर, तथा इस पर निर्भर होगी कि प्रौढ़ों को शिक्षार्थ कितना प्रेरित किया जा सकता है, शिक्षित समाज किस हद तक स्वेच्छा

मे तथा उत्साह से पढ़ाने को प्रतिबद्ध है। इस तरह के अभियान के लिए शिक्षा-प्रणाली को, उसके शिक्षकों और छात्रों को जबर्दस्त प्रयत्न करना पड़ेगा, क्योंकि मुख्य भार उन्हीं के कन्धों पर होगा। स्पष्ट है कि इस कार्यक्रम में अकूत प्रयत्न, संकल्प, अनुशासन और बलिदान की आवश्यकता है जिसकी रचना आसान नहीं है। यदि इन तैयारियों या अनिवार्य शर्तों के बिना कार्यक्रम शुरू किया गया तो वह मात्र लक्ष्यों की खाना-पूर्ति, अवांछनीय जोर-जुल्म, झूठे आंकड़े, भ्रष्टाचार तथा अन्य ऐसे ही दुर्गुणों का शिकार होकर रह जाएगा।

(ii) **चयनात्मक तरीका** : इसके विपरीत चयनात्मक तरीका चुने हुए इलाकों में (जहां प्राप्य संसाधनों के कारण एक अच्छा कार्यक्रम चलाया जा सकता है) या चुने हुए जन-समुदायों में जिनके लिए ऐसा कार्यक्रम लाभदायक हो सकता है (यथा, किसी बांध के निर्माण में लगे मजदूर), साक्षरता का कार्य संगठित करने का तरीका है।

तीसरा विकल्प है उन संस्थाओं या समूहों में कार्य करना जो प्रतिबद्धता दिखायें और अपने प्रस्तावों के लिए वित्तीय मदद भी दें। एक और भी विकल्प है, ऐसे इलाकों या समूहों में काम शुरू करना जो पढ़ने की इच्छा जतायें। और फिर इस हेतु आवश्यक तंत्र स्थापित किये जायें। हम मजदूरों या मालिकों के विशेष संगठनों में भी यह शुरुआत कर सकते हैं और उन्हें अपने समस्त सदस्यों या मजदूरों को साक्षर बनाने के कार्यक्रम चलाने में मदद दे सकते हैं, इत्यादि। ये कार्यक्रम अधिक सुगम हैं और उनकी लागत बहुत ज्यादा नहीं होगी। ऐसे कार्यक्रमों में स्तर बनाये रखना तथा लक्ष्य पूरे करना भी अधिक आसान है। यह भी गौर किया जाय कि चयनात्मक तरीके का अर्थ यह नहीं है कि बहुत छोटे समुदाय ही लिये जायेंगे। सामूहिक तरीके से यह इस बात में भिन्न है कि यह सबको एक तरफ से साक्षर करने नहीं जायेगा; बल्कि यह अध्येताओं या कार्यकर्ताओं के चयन के कुछ मानदंड रखेगा।

(iii) **समन्वित तरीका** : तीसरा तरीका इन दोनों तरीकों के समन्वय का हो सकता है; जहां परिस्थितियां अनुकूल हों वहां सामूहिक तरीका अपनाया जाय तथा शेष भागों में चयनात्मक तरीका।

एक चौथा तरीका भी है जिसकी सिफारिश कोई नहीं करता और वह वही है जो हम इस समय कर रहे हैं या आजादी से अब तक करते आ रहे हैं। हमने इस तथ्य के बावजूद कि इसमें कम लागत आती है (प्रति प्रौढ़ साक्षर पर 40-60 रुपये) इस पर जोर नहीं दिया है, जबकि इससे सामाजिक रूपांतरण की प्रक्रिया में बुनियादी अंतर आ सकता है। हम कुल शिक्षा-बजट का एक प्रतिशत से भी कम धन प्रौढ़ शिक्षा पर खर्च करते हैं तथा प्रति वर्ष केवल पांचेक लाख साक्षर तैयार करते हैं। इस कार्यक्रम में परिमाण का छोटापन तो है ही, गुणवत्ता

की भी कमी है। अतः साक्षरता की रफ्तार बहुत धीमी है तथा हमें यह संदिग्ध श्रेय प्राप्त है कि दुनिया की समूची निरक्षर आबादी का आधे से अधिक भाग हमारे देश में है। जाहिर है कि हमें इस स्थिति से उबरना चाहिए और शिक्षा आयोग की कोई एक सिफारिश पर अमल करना चाहिए।

'साक्षरता' शब्द का अर्थ अभी तक पढ़ना-लिखना-गणित मात्र माना जाता रहा है। पर यह जाहिर है कि इस अवधारणा को व्यापक बनाकर इसमें काफी कुछ जोड़ना होगा, तथा इससे व्यक्ति में ज्ञान, हुनर, तथा बेहतर काम और उत्पादकता के लायक दृष्टिकोण विकसित करने की क्षमता आनी चाहिए। वह अपना जीवन स्तर उठा सके, नागरिक जीवन में अधिक बुद्धिमत्ता से भाग ले सके, प्रकृति और समाज को बेहतर ढंग से समझ सके, और कुल मिलाकर बुनियादी मानवीय सस्कृति का रास्ता खोल सके। साक्षरता का अर्जन और उपयोग, दोनों इस व्यापकतर धारणा में सुगम होंगे। जरूरी है कि 15 वर्ष की आयु से अधिक के उन लोगों को जो न्यूनतम शिक्षा दी जाय, जो कि प्राथमिक शिक्षा से वंचित रह गये हैं, उसमें साक्षरता एवं सामान्य तथा नागरिक शिक्षा, पेशेगत हुनर की उन्नति, स्वास्थ्य शिक्षा (परिवार नियोजन समेत), विज्ञान-टेक्नालॉजी में बुनियादी शिक्षा, व्यायाम (खेलकूद समेत) और शौक तथा मनोरंजन शामिल हों। उसे सामाजिक-राष्ट्रीय सेवा-कार्यों में शामिल करना, अपने अधिकारों पर अड़ना और उत्पीड़न-शोषण से मुक्ति के लिए लड़ना आना चाहिए। जब यह शिक्षा (जो कि 6-14 वर्ष के बच्चों को दी जाने वाली प्राथमिक शिक्षा की संगिनी होगी) समस्त स्कूलेतर गरीब युवकों तथा प्रौढ़ों को दी जायगी, तभी हम आवश्यक सामाजिक रूपांतरण ला सकेंगे और समतापूर्ण तथा न्यायपूर्ण समाज बन सकेंगे।

(3) स्त्रियां

संविधान में स्त्री-पुरुष बराबर हैं। पर स्त्रियां अभी भी अनेक प्रतिबन्धों से घिरी हैं और उनकी वास्तविक हैसियत पुरुष से हीनतर है। इस समस्या पर **स्त्रियों के दर्जे के सम्बन्ध में राष्ट्रीय समिति** ने विचार किया है और उसकी बढ़िया रिपोर्ट में कई बहुमूल्य सुझाव हैं। उन पर फौरन अमल होना चाहिए।

इस कार्यक्रम की बुनियादी दरकार है अनौपचारिक और औपचारिक-शिक्षण का स्त्रियों में प्रसार, खासकर अनौपचारिक-शिक्षण का। इस दृष्टि से हमें वैसे कार्यक्रम बनाने होंगे जो कि पहले पुरुषों के लिए बताये गये हैं लेकिन स्त्रियों के लिए कुछ खास तरह के कार्यक्रम भी चाहिए। इसमें स्त्री-पुरुष-संबंधों की गहरी समझ, स्त्री-पुरुष के प्रकारों के बारे में गलत धारणाओं का विस्मरण, और उनमें आत्मचेतना जगाने जैसे कार्यक्रम उल्लेख्य हैं। बच्चों की बेहतर परवरिश, परिवार-नियोजन, खाद्यान्न-संरक्षण, पोषक भोजन और खाना पकाने की बेहतर विधियों का स्त्रियों के लिए विशेष महत्व है। देश के सभी भागों में (गो-पालन या मुर्गी-पालन जैसे) आर्थिक गतिविधि के क्षेत्रों में स्त्रियों का प्रायः एकाधिकार है। इस तरह के कार्यों में उनकी कुशलता में बढ़ोतरी करना तथा अन्य पेशों में प्रवेश के लायक बनाना, यह लक्ष्य भी होना चाहिए। प्रसूति, चिकित्सा, अनौपचारिक स्कूल-पूर्व शिक्षा के लिए स्त्री कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण देने पर जोर आवश्यक है। जो स्त्रियां स्कूल-शिक्षा पूरी नहीं कर सकीं उन्हें संक्षिप्त पाठ्यक्रमों द्वारा पूरा कराना तथा रोज़गार दिलाना उपयोगी साबित हुआ है, और संगठित क्षेत्र में मज़दूरिनों के लिए मज़दूर-शिक्षा-कार्यक्रमों का विकास करने की परम आवश्यकता है।

(4) उदीयमान नेतृत्व

अवाम से, खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में एक नेतृवर्ग जन्म ले रहा है जहां वे स्थानीय निकायों, राज्य विधान सभाओं, संसद इत्यादि में निर्वाचित होकर पहुंचते हैं। अक्सर देखा गया है कि इस नये नेतृवर्ग में अपने दायित्व पूरे करने का प्रशिक्षण नहीं होता। इस सामाजिक समुदाय के लिए जो अनौपचारिक-शिक्षा-कार्यक्रम बनें उनमें उक्त मुद्दे पर विशेष जोर देना होगा। ग्रामीण क्षेत्रों में समाज के चिंतन और कर्म को प्रभावित करने वाले वैचारिक नेताओं का भी एक समूह उभर रहा है। उनको अनौपचारिक माध्यमों से शिक्षा देकर विकास तथा सामाजिक रूपांतरण पर दूरगामी प्रभाव डाला जा सकता है।

उपर्युक्त तीन श्रेणियां—15-25 वर्ष आयु के स्कूल छोड़ देने वाले युवक प्रौढ़, और स्त्रियां—एक दूसरे से जुड़ी हैं और बहुत व्यापक हैं। अनौपचारिक-शिक्षा-कार्यक्रम के वास्तविक संयोजन में समान रुचियां और क्षमताओं वाले छोटे-छोटे समूहों को पहचानना होगा और उनके उपर्युक्त कार्यक्रम बनाने होंगे। यह कोई कठिन काम नहीं है पर इस तरह के समूहों की संख्या, प्रकार तथा विविधता लगभग अनंत है। अनौपचारिक-शिक्षा की सफलता इसी पर निर्भर होगी कि यह कार्य कितनी दक्षता से किया जाता है।

संगठन और क्रियान्वयन

शिक्षा के अनौपचारिक कार्यक्रमों के संगठन के बारे में कुछ महत्वपूर्ण सवाल उठते हैं। इन प्रश्नों का संबंध उन एजेंसियों या संस्थाओं से है जिनके माध्यम से ये कार्यक्रम संगठित किये जा सकें। कार्यकर्ताओं को भर्ती कर प्रशिक्षित किया जा सके, पाठ्यक्रम बनाया जा सके, शिक्षण और मूल्यांकन की विधि तय हो सके, आवश्यक शिक्षण-अध्ययन सामग्री बनायी जा सके, मार्गदर्शन, समन्वय और

वित्त की व्यवस्था हो सके। निम्न अनुच्छेदों में इनका संक्षिप्त विवरण है :

(1) **संस्थाएं** : अनौपचारिक-शिक्षा के आधुनिक कार्यक्रम उन नयी संस्थाओं के इर्द-गिर्द बन सकते हैं जो अब अस्तित्व में आयी हैं। इस बाबत तीन स्पष्ट संभावनाएं हैं :—

(क) शिक्षा की औपचारिक प्रणाली का अब विराट जाल बिछ चुका है जो अब देश के प्रायः प्रत्येक भाग में पहुंच गया है तथा उसके संसाधन भी विशाल हैं। अब लगभग 7,00,000 शिक्षा संस्थाएं, लगभग 10 करोड़ छात्र, 30 लाख से ऊपर शिक्षक, तथा भवन, मैदान, और करोड़ों रुपयों के साज-सामान इसमें हैं। अनौपचारिक-शिक्षा के लिए इन संसाधनों का उपयोग करना वांछनीय भी है और संभव भी। इन संस्थाओं के लिए कार्यक्रम तो यह होगा कि ये अपने छात्रों के लिए अध्ययनेतर गतिविधियों, समाज-राष्ट्र सेवा-कार्यों, और छात्रों के स्वशासन के विकास इत्यादि के जरिये अनौपचारिक-शिक्षा-कार्यक्रम बनायें। इससे भी महत्व की बात यह है कि प्रत्येक संस्था एक सामाजिक केंद्र बन सकती है और अपने स्थानीय समुदाय के अन्य सदस्यों के लिए अनौपचारिक कार्यक्रम चला सकती है। मसलन, कोई शिक्षा-संस्था अपने क्षेत्र में साक्षरता कार्यक्रम चलाये। संसाधन सुलभ हों तो वह सामान्य शिक्षा, पेशेगत शिक्षा, व्यायाम, खेलकूद, सांस्कृतिक या मनोरंजनात्मक गतिविधियां संचालित कर सकती है। इमारत, मैदान, साज-सामान, पुस्तकालय, और कर्मचारियों के अपने संसाधन अपने हलके को मुहैया करा सकती है। दूसरे शब्दों में हरेक शिक्षा-संस्था का कार्य इस तरह नियोजित होना चाहिए कि उससे पूर्णकालिक, अंशकालिक और स्वाध्याय कार्यक्रम उसके क्षेत्र के सभी इच्छुक व्यक्तियों को अधिकतम मात्रा में सुलभ हो सकें। उसे सारे दिन तथा सारे वर्ष कार्यरत रहना चाहिए। यह ऐसा कार्यक्रम है जिसमें मामूली अतिरिक्त लागत से समुदाय के सभी वर्ग-उपवर्गों को अनौपचारिक-शिक्षा देने के बड़े कार्यक्रम सम्पन्न हो सकते हैं।

(ख) अनेक, मूलतः शैक्षिक और सांस्कृतिक संस्थाएं वर्तमान कालेज, स्कूल और विश्वविद्यालय की औपचारिक-शिक्षा-व्यवस्था से बाहर हैं। इनमें पुस्तकालय, संग्रहालय, कलादीर्घा, यूथक्लब, महिला-मंडल, व्याख्यान संस्था, स्काउट गाइड इत्यादि संस्थाएं आती हैं। इस श्रेणी की संस्थाएं भी अपनी-अपनी क्षमता के क्षेत्र में अनौपचारिक-शिक्षा के अनेक कार्यक्रम चला सकती हैं जो औपचारिक-शिक्षा के छात्रों तथा स्कूल-बाह्य युवकों के काम आ सकते हैं।

(ग) अंत में, औपचारिक-शिक्षा-व्यवस्था तथा शिक्षा मंत्रालयों एवं विभागों के बाहर अनेक अशैक्षिक संस्थाएं हैं जिनका उपयोग शिक्षार्थ हो सकता है। इनमें कारखाने, वर्कशाप, बीज, फार्म, डेयरी, होटल, रेलवे, बस कंपनी, एयरलाइन्स जैसे परिवहन संगठन, इत्यादि आते हैं। वस्तुतः ऐसी कोई भी सामाजिक संस्था नहीं है जिसका उपयोग किसी न किसी शिक्षा-कार्यक्रम में न हो सके। इस समय इन विराट शिक्षा-संसाधनों का बहुत ही कम उपयोग हो रहा है। हमें अनौपचारिक तरीकों से इन सबका भरपूर उपयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए ताकि स्कूली तथा स्कूल-बाह्य छात्र एवं प्रौढ़ उनसे लाभ उठा सकें।

अनौपचारिक-शिक्षा को छह मूल श्रेणियों में बांटा जा सकता है—उन संस्थाओं के आधार पर जो उसे संगठित करती हैं, तथा उन अध्येताओं के आधार पर जो उसमें पढ़ते हैं, जैसा कि पृष्ठ 65 पर दी गयी तालिका से स्पष्ट होगा।

इससे यह भी प्रकट होगा कि अनौपचारिक-शिक्षा के अधिकांश कार्यक्रमों को संस्थाबद्ध[1] करना आवश्यक होगा, पर यह अनिवार्य नहीं है इस पर जोर देना चाहिए। वे व्यक्तिगत आधार पर संगठित की जा सकती हैं, की जानी चाहिए। मसलन, कोई वजह नहीं है कि एक बस कन्डक्टर उन लोगों के लिए संगीत की कक्षा क्यों न चलाये जो उससे सीखना चाहते हैं (यदि वह संगीतज्ञ है)। वस्तुतः ऐसे व्यक्तिगत प्रयत्नों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए क्योंकि इससे संस्थाओं का आततायीपन कम करने में मदद मिलेगी। हमें वस्तुतः ऐसे भविष्य की आशा करनी चाहिए जिसमें अनौपचारिक-शिक्षा-संस्थाओं से नहीं व्यक्तियों से प्राप्त होगी।

अनौपचारिक-शिक्षा-कार्यक्रमों की छह श्रेणियां

अनौपचारिक-शिक्षा-कार्यक्रम जो इनके द्वारा संगठित किये जाते हैं :

	औपचारिक-शिक्षा-व्यवस्था के अंतर्गत शिक्षा-संस्थाएं	औपचारिक-शिक्षा-व्यवस्था के बाहर शिक्षा-संस्थाएं	मूलतः गैर-शैक्षिक संस्थाएं
औपचारिक-शिक्षा प्रणाली के छात्रों के लिए	1	3	5
स्कूल-बाह्य प्रौढ़ों और युवकों के लिए	2	4	6

1. इस विवेचन में 'संस्था' शब्द सरकारी और गैर-सरकारी दोनों संस्थायों और संगठनों का सूचक है। चूंकि अनौपचारिक-शिक्षा कार्यक्रम हर तरह से खुले और ऐच्छिक होते हैं, अतः स्वयंसेवी संस्थाओं की भूमिका इसके विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण होगी।

(2) एजेंट (अभिकर्ता) : अनौपचारिक-शिक्षा कौन देगा ? यह अलग प्रश्न है। यह बिल्कुल सही है कि काफी सारा काम पेशेवर शिक्षकों द्वारा होगा जो कि औपचारिक-शिक्षा-प्रणाली में हैं। पर यह गौर करना चाहिए कि अनौपचारिक-शिक्षा में इन्हें किंचित बाधा महसूस होगी क्योंकि इस समय औपचारिक-शिक्षा जिन सिद्धान्तों पर दी जाती है वे अनौपचारिक-शिक्षा के सिद्धान्तों के बिल्कुल विपरीत हैं। ज्यों-ज्यों औपचारिक-शिक्षा का कायाकल्प होता जायेगा त्यों-त्यों यह बाधा भी कम होती जायगी। पर मौजूदा संक्रमण काल में हमें औपचारिक-शिक्षा-प्रणाली में से उन्हीं अध्यापकों को छांटना होगा जिनमें अनौपचारिक-शिक्षा कार्यक्रमों के सक्षम तथा सम्पन्न संचालन की क्षमता हो।

यह भी याद रखना होगा कि अनौपचारिक-शिक्षा के लिए हमें बहुत अधिक अध्यापक चाहिए। सर्वप्रथम, इस समय औपचारिक-शिक्षा-प्रणाली में अधिक-से-अधिक 25 प्रतिशत आबादी शरीक है। अनौपचारिक माध्यमों में, जिनमें कि औपचारिक प्रणाली के छात्र भी रहेंगे और स्कूल-बाह्य युवजन एवं प्रौढ़जन भी, छात्र-संख्या जाहिरा तौर पर तीन या चार गुना होगी। दूसरे, अनौपचारिक-शिक्षा में कक्षा का आकार औपचारिक स्कूल की कक्षा से बहुत छोटा होगा (काफी कुछ तो व्यक्तिगत शिक्षण होगा)। अतः अनौपचारिक-शिक्षा में औपचारिक-शिक्षा से पांच या दस गुना अधिक कक्षाएं लगेंगी। इसलिए औपचारिक-शिक्षा-प्रणाली से शिक्षक यदि अनौपचारिक-शिक्षा में लग जाएंगे तब भी शिक्षकेतर कार्यकर्ताओं की आवश्यकता पड़ेगी।

एक अन्य विचारणीय मुद्दा यह है कि अनौपचारिक-शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है शिक्षा को अव्यवसायी बनाना। इवान इलिच बता चुके हैं कि पेशेवर बनते ही कोई भी सेवा सबसे पहले तो महंगी हो जाती है और फिर दुर्लभ, जिससे कि एक पेशे के हामी, जिन्हें कि उस सेवा का पुरस्कर्ता होना चाहिए, उसके दुश्मन बन बैठते हैं तथा निहित स्वार्थ विकसित कर लेते हैं। मसलन, नंगे पैर डाक्टर ही जनता को सस्ती चिकित्सा सुलभ कर सकते हैं पर ज्यों-ज्यों चिकित्सा पेशेवर बनती है, उसकी लागत बढ़ती जाती है जिससे कि वह दुर्लभ हो जाती है, और तब डाक्टरों का स्वार्थ बीमारियों में हो जाता है। इसी प्रकार जब शिक्षक पेशेवर होते हैं, तो अपने कार्य अनावश्यक तौर से रहस्यमय बनाने लगते हैं, शिक्षक बनने योग्य अनेक लोगों को शिक्षण के अधिकार से वंचित कर देते हैं, और इस तरह नकली कमी पैदा कर देते हैं। उस दिशा में पहले तो वे ज्यादा वेतन मांगते हैं, फिर कक्षाएं छोटी कराना चाहते हैं, जिससे प्रति शिक्षार्थी लागत बहुत बढ़ जाती है। अन्त में इससे शिक्षा का प्रसार रुकने लगता है क्योंकि समाज के पास इतना धन नहीं है कि अधिक शिक्षक लगाये जा सकें। अंततः शिक्षक शिक्षा के पुरस्कर्ता नहीं बल्कि उसके प्रसार के शत्रु बन जाते हैं। इसलिए अनौपचारिक-शिक्षा जो कि गैर-शिक्षकों

का सिद्धान्ततः उपयोग करती है, औपचारिक-शिक्षा-प्रणाली को अव्यवसायी बनाने, या कम से कम उसमें पेशेवरी का दबदबा कम करने में मदद करती है।

एक अन्य मुद्दा यह भी है कि औपचारिक-शिक्षा की मौजूदा प्रणाली में शिक्षक और छात्र के बीच एक खाई है, एक तरह का ध्रुवीकरण है। छात्र वह है जो पढ़ाते नहीं, शिक्षक वे हैं जो पढ़ते नहीं, इस तरह का ध्रुवीकरण समाप्त होना चाहिए, और औपचारिक-शिक्षा में भी शिक्षकों को वरिष्ठ छात्र तथा छात्रों को कनिष्ठ शिक्षक के रूप में देखा जाना चाहिए। सौभाग्य से अनौपचारिक-शिक्षा में हम यहीं से शुरुआत करते हैं। हमें इस सम्पत्ति की रक्षा तथा विकास करना चाहिए क्योंकि तभी हम इसे औपचारिक प्रणाली में भी प्रविष्ट करा सकते हैं तथा उसके रूपान्तरण में मदद कर सकते हैं।[1]

अनौपचारिक-शिक्षा को हजारों-हजार शिक्षक खोजने होंगे तथा उन्हें इस कार्यक्रम के पुरस्कर्ता के रूप में प्रशिक्षित करना होगा। ये आयेंगे कहां से ?

प्रकट है कि एक स्रोत तो औपचारिक प्रणाली के छात्र स्वयं हैं। कोई वजह नहीं कि छात्रों को पढ़ाने के अयोग्य समझा जाय या कि, यह कि वे अच्छे शिक्षक नहीं हो सकते। वस्तुतः प्रमाण तो यही है कि वे कारगर शिक्षक साबित होते हैं और अपने अध्यापन-कार्य के कारण वे बेहतर छात्र भी बन सके हैं। इसके अलावा, सभी स्तरों पर छात्र पढ़ा सकते हैं। भारत के प्राथमिक स्कूलों में मानिटर की प्रथा चलती थी जिसके तहत हर नये छात्र को एक वरिष्ठ छात्र के जिम्मे कर दिया जाता था, जो कि शिक्षक की देख-रेख में उस छात्र को पढ़ाता था और व्यक्तिगत रूप से मार्ग दर्शन करता था। यह प्रथा अच्छी चल रही थी, माध्यमिक स्कूलों के छात्रों ने साक्षरता-शिक्षक के रूप में, खासकर स्त्रियों के लिए, बहुत अच्छा काम किया है। उच्चतर छात्रों ने स्कूल के 'ड्राप आउट' बच्चों, युवकों और प्रौढ़ों के लिए साक्षरता-कक्षाएं भी ली हैं तथा अनवरत शिक्षण किया है। सभी स्तरों पर तेज-तर्रार छात्रों को अपने से कमजोर या कनिष्ठ छात्रों को ट्यूशन और व्यक्तिगत मार्गदर्शन कराने में सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया गया है। इसी तरह छात्रों ने शिक्षा समेत समाज के अनेक सेवा-कार्य सफलतापूर्वक किये हैं। बहुत आसानी से देखा जा सकता है कि छात्रों को अनौपचारिक-शिक्षा के लिए प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए तथा उसके काम में लगाना चाहिए, और यह संभव है। यह कार्य विशुद्ध ऐच्छिक हो सकता है; और यदि कुछ मानदेय भी दिया जाय तो कार्यक्रम का खर्च काफी कम किया जा सकता है। यही नहीं, इसके

1. मैं इसे भी रेखांकित करूंगा कि औपचारिक-शिक्षा मूलतः 'सह-अध्ययन' की प्रणाली है और 'शिक्षक' हर अध्येता समूह के लिए अपरिहार्य नहीं है। वस्तुतः हमारा नीतिगत लक्ष्य यह होना चाहिए कि अध्येता स्वयं अपने कार्यक्रम समायोजित करें और उन्हें किसी 'एजेंट की जरूरत न पड़े।

जरिये छात्रों को बढ़िया सबक देने, उन्हें सामाजिक समस्याओं से अवगत कराने और सामाजिक दायित्व का अहसास कराने का अमूल्य लाभ इससे होगा।

इस सिलसिले में अनौपचारिक-शिक्षा-कार्यक्रमों में युवकों को संलग्न करना एक बड़ा दायित्व है, युवजनों—स्कूल के तथा बाहर के युवजनों— में अब पर्याप्त चेतना आयी है, और हम उनकी शक्ति एवं प्रतिभा का उपयोग यदि राष्ट्रीय विकास में नहीं करेंगे तो भारी नुकसान उठायेंगे। अनौपचारिक-शिक्षा-कार्यक्रम इस मायने में दुहरा लाभ देते हैं। एक तरफ तो वंचित समुदायों को आवश्यक अनौपचारिक-शिक्षा का वरदान मिलेगा, दूसरी ओर इस तरह की सेवा में लगे छात्र स्वयं धन्य हो जायेंगे।

अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों का फायदा यह है कि समाज के सभी संसाधनों का, खासकर उन संसाधनों का जो कि औपचारिक-शिक्षा-व्यवस्था (छात्र, शिक्षक) के बाहर हैं, उपयोग किया जा सकता है, इसलिए कार्यक्रमों के अनुरूप हमें अपना जाल बड़ा करके फैलाना होगा और अनौपचारिक-शिक्षा के एजेन्टों (कार्यकर्ताओं) के रूप में ऐसे सभी लोगों को खींच लेना होगा जिनमें आवश्यक हुनर हैं, भले ही वे औपचारिक-शिक्षा प्रणाली में शिक्षक बनने की शैक्षिक योग्यता वाले हों या न हों। उदाहरण के लिए, स्वास्थ्य के अनौपचारिक-शिक्षण में चिकित्सक पेशे के सभी लोगों का उपयोग किया जा सकता है। कृषि-क्षेत्र के सभी पेशेवरों और अच्छे काश्तकारों का उपयोग कृषि-विस्तार या अनौपचारिक-कृषि-शिक्षा में किया जा सकता है। जो लोग कोई धंधा जानते हैं उनसे उस धंधे की शिक्षा दिलाई जा सकती है, तथा उस धंधे में लगे लोगों के हुनर सुधारे जा सकते हैं। जो व्यक्ति गा सकता है या खेल सकता है, वह अन्य किसी जिज्ञासु को वही खेल या गायन सिखा सकता है; इत्यादि। अतः औपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों में न केवल औपचारिक-शिक्षा के बाहर की सभी संस्थाओं को बल्कि औपचारिक-शिक्षा के बाहर के सभी व्यक्तियों को भी शिक्षक और छात्र दोनों रूपों में समेटने का प्रयत्न करना होगा। अनौपचारिक-शिक्षा का विचार-दर्शन यह है कि प्रत्येक व्यक्ति आजीवन छात्र बन सकता है तथा बनना चाहिए, और उससे सीखने को उत्सुक व्यक्तियों को अपना ज्ञान एवं कौशल प्रदान करने का अवसर भी उसे मिलना चाहिए। इस तरह अनौपचारिक-शिक्षा एक ऐसा अध्ययन-शील समाज बनाने का प्रयत्न करती है जहां हरेक व्यक्ति आजीवन छात्र बन जाता है और आजीवन शिक्षक भी तथा अपने ज्ञान एवं हुनर अन्य लोगों में बांटता है।

इस पर जोर देना होगा कि नेता से अध्ययन की तकनीक अनौपचारिक-शिक्षा में बहुत महत्व रखती है, खासकर स्कूल के बाहर के नौजवनों में। दूसरे शब्दों में, इस समूह को पढ़ाने में शिक्षक की बनिस्बत खुद इस समूह का नेता अधिक कारगर होता है। अतः इन समूहों के अपने नेता चुनकर उन्हीं से इन

गैर-छात्र समूहों का अध्ययन कराने में, उन नेता-शिक्षकों को संक्षिप्त किन्तु सघन प्रशिक्षण देकर पुनः उन्हीं से अपने समवयस्कों में शिक्षा-कार्यक्रम संचालित कराने में सर्वाधिक सफलताएं मिली हैं। इसी तकनीक का उपयोग अन्य समूहों में भी हो सकता है।

औपचारिक-शिक्षा में पेशेवर शिक्षक का रवैया ऐसे आदमी का होता है जो अपने ज्ञान को छिपाकर रखवाली करता है तथा बिना कुछ कीमत लिए उसे बांटना नहीं चाहता, खजाने पर कुंडली मारे बैठे सांप-सा वह होता है। अनौपचारिक-शिक्षा-प्रणाली में शिक्षक-रवैया ऐसे आदमी का होता है जिसे अपना ज्ञान बांटकर आनन्द मिलता है, क्योंकि वह जानता है कि एक सच्ची शिक्षण प्रक्रिया में शिक्षक को भी छात्र से उतना ही मिलता है जितना कि छात्र को शिक्षक से। अतः वह आर्किमिडीज की तरह होता है, जिसे स्नान-कुंड में अपने सिद्धान्त की भी फिक्र नहीं रही, और चिल्लाने लगा, 'मुझे मिल गया,' 'मुझे मिल गया,' और हरेक को अपना आनन्द बांटने का प्रयत्न किया। अनौपचारिक धारा में एक बार हम ऐसे वातावरण की सृष्टि कर दें तो औपचारिक व्यवस्था में इसकी पुनः सृष्टि भी संभव हो जायेगी।

(3) **कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण, सामग्री, शिक्षण-विधियां और मूल्यांकन :** जब अनौपचारिक-शिक्षा में स्वीकार्य संस्थाओं और व्यक्तियों का चयन हो जाय तथा कार्यकर्ता मिल जायें, तब हमें सामग्री तैयार करने, शिक्षण के उपयुक्त कार्यक्रम बनाने, और कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण तथा मूल्यांकन करने की ओर ध्यान देना होगा। इस सिलसिले में कुछ उपयोगी सुझाव यहां दिये जा रहे हैं।

औपचारिक-शिक्षा से जुड़े विभागीय अभिकरणों को अनौपचारिक-शिक्षा की सामग्री तैयार करने का काम देना वांछनीय नहीं होगा। कार्यक्रम के बुनियादी दृष्टिगत विभेदों के कारण वे उससे न्याय नहीं कर सकेंगे। अतः यह कार्य नये और संभव हो तो स्वयंसेवी अभिकरण को सौंपा जाय जो कि इस कार्यक्रम में अभिरुचि एवं क्षमता रखता हो। लेकिन यह अभिकरण अधिकृत या सरकारी व्यवस्था से बिल्कुल अलग होकर काम करे, यह भी वांछनीय नहीं होगा। इसको किसी उचित ढंग से सरकारी अभिकरण से जोड़ना आवश्यक होगा। सभी बातों पर विचार के बाद यही प्रतीत होता है कि शिक्षा मंत्रालय की मौजूदा नीति बहुत लाभदायक है। इसके तहत आवश्यक विशेषज्ञता और सम्पर्कों वाला एक गैर-सरकारी अभिकरण **अनौपचारिक-शिक्षण का राज्य संदर्भ केन्द्र के** रूप में चुन लिया जाता है और फिर उसको राज्य सरकार से तथा राज्य सरकार के शिक्षा विभाग से समुचित ढंग से जोड़ दिया जाता है। लेकिन यह ध्यान रहे कि यह संक्रमणकालीन चरण है। ज्यों-ज्यों विशेषज्ञता तथा कार्यक्रम बढ़ेंगे, हर जिले

में संदर्भ केन्द्रों की जरूरत पड़ेगी।

कार्यक्रम चलाते हुए ही अनौपचारिक-शिक्षा की सामग्री सर्वोत्तम ढंग से बन पाती है। राज्य संदर्भ केन्द्र, चाहें तो इस सामग्री के निर्माण में मार्गदर्शन कर सकते हैं, उसका परिष्कार कर सकते हैं। दूसरी ओर, केन्द्र भी इसकी रचना कर सकता है और फिर विभिन्न कार्यकर्ता आवश्यक संशोधनों के साथ उनका उपयोग कर सकते हैं। वस्तुतः सामग्री-रचना की प्रक्रिया संदर्भ केन्द्र और कार्यकर्ताओं से घनिष्ठ सम्पर्क रखे, यह आवश्यक है।

कार्यकर्ता-प्रशिक्षण का कार्य भी सामग्री-उत्पादन से जुड़ जाता है क्योंकि अनौपचारिक-शिक्षा के लिए कार्यकर्ता के प्रशिक्षण का एक महत्वपूर्ण अंग उन्हें पाठ्यक्रम-रचना और सामग्री-उत्पादन की युक्तियां प्रदान करना भी है। राज्य संदर्भ केन्द्रों को प्रशिक्षण केन्द्र का काम भी अंजाम देना है। यह तो ठीक ही है पर इस हेतु हमें अनेक अभिकरण (एजेंसियां, माध्यम) चाहिए। एक तरीका यह हो सकता है कि जिन केन्द्रों में कार्यक्रम सुचारु ढंग से चल रहा हो उन्हें प्रशिक्षण केन्द्र के रूप में अपनाकर कार्यकर्ता तैयार किये जायें। वस्तुतः प्रशिक्षण की यह अनौपचारिक विधि, जिसमें व्यक्ति एक चालू कार्यक्रम में हिस्सा लेकर सीखता है, संस्थाएं बनाने और औपचारिक प्रशिक्षण देने से भी बेहतर है।

क्या हम मौजूदा शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं को इस काम में ले सकते हैं? शायद नहीं। इस समय औपचारिक प्रणाली के शिक्षकों को प्रशिक्षण देने लायक क्षमता भी उनमें नहीं है। अनौपचारिक-शिक्षा और इसके कार्यक्रमों का उन्हें कोई ज्ञान नहीं है। अतः पहला आवश्यक कदम है कि स्वयं प्रशिक्षण संस्थाओं के साथ काम करें, उनसे औपचारिक-शिक्षा की अवधारणाएं स्वीकार करायें और उन्हें अपने पाठ्यक्रम, सामग्री तथा तरीके बदलने में मदद करें। अपने आप में यह महान उपलब्धि होगी तथा औपचारिक-शिक्षा-प्रणाली के लिए भी; और जब यह हो जाय तो हम इन प्रशिक्षण संस्थाओं का उपयोग अनौपचारिक-शिक्षा के लिए भी करने लगेंगे।

शिक्षण-विधियों पर बावले होने की जरूरत नहीं है। औपचारिक-प्रणाली पहले ही औपचारिक-शिक्षण पर जोर दे-देकर अपना नुकसान कर चुकी है और उन गलतियों को दोहराने में कोई तुक नहीं है। हम यह न भूलें कि अनेक अनौपचारिक कार्यक्रम औपचारिक-शिक्षण से बहुत अधिक सफल रहते हैं। उदाहरण के लिए, एक निरक्षर मां द्वारा अपनी बेटी को खाना बनाने की शिक्षा को लें। यदि उसकी तुलना माध्यमिक स्कूल में गृहविज्ञान की कक्षा से करें तो हम पायेंगे कि निरक्षर मां का कार्य श्रेष्ठतर है। वह कम-से-कम साधन का उपयोग करती है, बर्बादी न्यूनतम होती है, लागत नाममात्र की या बिल्कुल नहीं होती और नतीजा प्रायः सौ प्रतिशत होता है। अन्य कई कार्यक्रमों में भी यही देखने को

मिलेगा। मसलन, बच्चे अपनी नानी या दादी की कही हुई प्रायः हर बात याद रखते हैं; और वे महज इसलिए सफल और जीवित रह पाती हैं कि स्कूल में पढ़ी हुई बहुत सारी चीजों को वे भूलने में समर्थ होते हैं। हमें अनौपचारिक कार्यक्रम में शिक्षक के लिए केवल कुछेक निर्देश बना लेने चाहिए। मसलन, यह कहा जा सकता है कि अनौपचारिक-शिक्षा का कार्यक्रम—

छात्रों और शिक्षकों का या स्वयं छात्रों का संयुक्त प्रयत्न है;
किसी कार्य या विकास-लक्ष्य पर आधारित होता है;
समस्या के समाधान में लगा होता है;
विचार-विमर्श से चलता है न कि व्याख्यानों से; ऐच्छिक होता है;
स्थानीय परिस्थितियों के लिए लचीलापन लिये होता है और प्रत्येक भागीदार की निजी जरूरतों का ध्यान रखता है।

इस तरह के व्यापक ढांचे में हम प्रत्येक समूह को स्वयं अपनी विधियां तैयार करने के लिए छोड़ देते हैं।

अनौपचारिक कार्यक्रम में बाहरी मूल्यांकन की कोई जरूरत नहीं है, सिवाय उस स्थिति के जब भागीदारों ने औपचारिक व्यवस्था के किसी इम्तहान की तैयारी की हो। सारा मूल्यांकन स्वयं भागीदार करें और वे चाहें तो किसी को बाहर से मूल्यांकन के लिए बुला लें। प्रमाणपत्र बांटने की प्रथा को भी प्रोत्साहन देने के बजाय निरुत्साहित किया जाय। कुल मिलाकर कोशिश यह होनी चाहिए कि भागीदार में यह दृष्टिकोण आये कि अध्ययन का एक अपना ही आनन्द और पुरस्कार है।

(4) **मार्गदर्शन और तालमेल** : औपचारिक प्रणाली में निरीक्षण की जो धारणा है उसे अनौपचारिक क्षेत्र में नहीं लाना चाहिए, बल्कि पर्यवेक्षण को भी अधिक तरजीह नहीं देनी चाहिए। हमें आवश्यकता वस्तुतः प्रत्येक कार्यक्रम में तालमेल और मार्गदर्शक सेवाओं की व्यवस्था करने की है, तथा उसका समायोजन लचीलेपन एवं विकेन्द्रित तरीके से होना चाहिए। हमें प्रत्येक कार्यक्रम के लिए, उसकी अपनी विशेषताओं के अनुरूप अलग-अलग मार्गदर्शन-तंत्र खोजना चाहिए और स्थानीय स्तर पर सभी संसाधनों को (या सुगम दूरी से लाकर) मार्गदर्शन के लिए संयोजित करना चाहिए। शुरुआत के लिए राज्य संदर्भ केन्द्र एक समन्वयकारी बिन्दु हो सकता है।

(5) **वित्त** : अनौपचारिक-शिक्षा के दो फायदे हैं; इन कार्यक्रमों में प्रति व्यक्ति लागत प्रायः कम आती है क्योंकि अनौपचारिक तकनीकों तथा गैर-पेशेवरों या छात्रों का शिक्षक के तौर पर प्रयोग होता है। समाज के सभी संसाधनों—मानवीय संस्थागत और भौतिक—का शिक्षार्थ उपयोग करने से कुल लागत भी कम आती है। लेकिन तब भी इन कार्यक्रमों में बहुत धन लगेगा। यद्यपि इस

अतिरिक्त कार्यक्रम में खर्च का कुछ भाग गैर-सरकारी स्रोतों और स्वयं छात्रों से मिल जायेगा, पर अधिकांश धन की व्यवस्था राज्य सत्ता को ही करनी पड़ेगी।

एक प्राथमिकता के मुद्दे का उल्लेख आवश्यक है। अनौपचारिक-शिक्षा की जरूरत सभी को है— धनिकों को तथा गरीबों को, शिक्षितों को तथा अशिक्षितों को। बहुत मुमकिन है कि अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम सर्वप्रथम, तथा बड़े पैमाने पर, शिक्षितों एवं सम्पन्न लोगों के लिए बनाये जायें। इस पर कोई एतराज भी नहीं होना चाहिए, बशर्ते इन कार्यक्रमों का लाभ पानेवाले खुद सारा बोझ उठायें और प्रत्यक्ष या परोक्ष ढंग से सरकारी खजाने पर कोई बोझ न डाला जाए। राजकीय धन का उपयोग केवल गरीब और वंचित समुदायों के लिए होना चाहिए।

सफलता की आवश्यक शर्तें

अनौपचारिक-शिक्षा के बारे में कुछ सन्दर्श प्रस्तुत करने के उद्देश्य से हम जिस प्रयोजन में लगे थे, अब लगभग उसके समापन बिन्दु पर हैं, पर समापन से पहले चार प्रमुख मसलों का संक्षिप्त उल्लेख जरूरी है।

पहला

हमें अपने लक्ष्य के बारे में बिल्कुल स्पष्ट रहना चाहिए। हम विराटकाय औपचारिक-शिक्षा-प्रणाली में थोड़ा-बहुत खर्च करके अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम और जोड़ देना चाहते हैं—ऐसा नहीं है। इसके विपरीत हम अनौपचारिक-शिक्षा को शिक्षा और समाज के समग्र सुधार के हथियार के रूप में इस्तेमाल करना चाहते हैं। खासकर हमें इस माध्यम का उपयोग गरीबों को शिक्षित और संगठित करने में करना चाहिए ताकि वे खुद को मुक्त कर सकें, अपना जीवन-स्तर सुधार सकें और हमें एक अधिक समतापूर्ण एवं न्यायसंगत समाज-व्यवस्था बनाने की दिशा में आगे बढ़ने में मदद कर सकें।

दूसरा

हम अनौपचारिक-शिक्षा का उपयोग स्वयं औपचारिक-शिक्षा में सुधार लाने और एक नयी एकीकृत शिक्षाप्रणाली की रचना करने में करना चाहेंगे ताकि तीनों धाराएं—औपचारिक, अनौपचारिक और आकस्मिक—उपयुक्त सेतुओं और अन्य तरीकों से एक दूसरे से जुड़ जायें। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन भर पढ़ने का अधिकार और समुचित सुविधाएं रहेंगी, और वह अपनी इच्छा तथा आवश्यकता के अनुसार एक से दूसरी धारा में जा सकेगा। इस तरह की व्यवस्था

एक अध्ययनशील समाज की रचना करेगी और सभी को आजीवन शिक्षा देगी।

तीसरा

अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों का आयोजन औपचारिक-शिक्षा-संस्थाओं में, औपचारिक प्रणाली के बाहर की शैक्षिक संस्थाओं में, और समाज की समस्त गैर-शैक्षिक संस्थाओं में बहुत बड़े पैमाने पर किया जायेगा। अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यकर्ताओं की तलाश समस्त सामाजिक समूहों में करनी होगी और अन्ततः प्रत्येक व्यक्ति को आजीवन छात्र और आजीवन शिक्षक बनना होगा। इस कार्यक्रम को विकेन्द्रीकरण के आधार पर और नम्यता, स्वातन्त्र्य एवं गतिशीलता के सिद्धान्तों पर संगठित करना होगा।

चौथा

यदि उपर्युक्त सभी बातों को प्राप्त करना है तो सफलता न तो आसान होगी न त्वरित। वस्तुतः हमारी सफलता-विफलता पांच बड़े कारणों पर निर्भर होगी :

(1) पहला है—बुनियादी दर्शन का सवाल। भारत के आम आदमी और उसकी क्षमता में हमारी निष्ठा। बुद्धिजीवी वर्ग के अनेक लोगों को भारत का गरीब एक अनावश्यक बुराई, एक अवांछनीय त्याज्य वस्तु, एक असुविधाजनक उपस्थिति मात्र मालूम होता है, जिसे आंखों और मन से परे धकेल देना ही बेहतर है, अच्छा तो यह होता कि यह कोढ़ पैदा ही न होता। इस तरह के रवैये से आज की अनौपचारिक-शिक्षा के कोई कार्यक्रम आगे नहीं बढ़ सकते, अतएव हमें भारत के गरीबों के प्रति न केवल करुणा, बल्कि निष्ठा का भाव पैदा करना होगा कि वे ही वास्तव में हमारा राष्ट्र हैं और देश का भविष्य मुट्ठी-भर विशिष्ट-जनों पर नहीं बल्कि उन्हीं पर निर्भर है। यह निष्ठा जितनी व्यापक होगी, अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों की सफलता की सम्भावना भी उतनी प्रबल होगी।

(2) दूसरा सवाल है हैसियत और गुणवत्ता का। अनौपचारिक-शिक्षा कोई दूसरों के बच्चों की या महत्वहीन लोगों की शिक्षा का कार्यक्रम नहीं है, उसे यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम औपचारिक-शिक्षा जितना दर्जा देना पड़ेगा। यह तभी होगा जब सर्वोच्च स्तर बनाये रखें, जब उचित बिन्दुओं पर इसके तथा औपचारिक-शिक्षा प्रणाली के बीच सेतु हो, और अनौपचारिक-शिक्षा के आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक पुरस्कार औपचारिक-शिक्षा जितने ही मूल्यवान बनाये जायें।

(3) तीसरा कारण है पैमाने का। अनौपचारिक-शिक्षा के आधुनिक कार्यक्रम हमारी जनता के विपुल बहुलांश के लिए हैं, अतः उनको बहुत बड़े पैमाने पर बनाना होगा तथा उनकी व्याप्ति औपचारिक प्रणाली से भी वृहत्तर होना चाहिए।

कुछेक स्कूल या केन्द्र चला देने से काम नहीं चलेगा। और यदि मौजूदा स्थिति पर कारगर प्रभाव डालना है तो अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम बहुत ही बड़े पैमाने पर बनाने होंगे।

(4) चौथा सवाल है लागत का। अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों को आवश्यक विशाल पैमाने पर बनाना और उनकी गुणवत्ता का स्तर बनाये रखना तभी सम्भव होगा जब राष्ट्र उस पर उसी बड़े पैमाने से खर्च करने को तैयार हो। यदि औपचारिक प्रणाली को भी बढ़ने और अतिरिक्त संसाधनों का इस्तेमाल करने की छूट रही तो उसके साथ अनौपचारिक-शिक्षण-कार्यक्रमों के लिए आवश्यक सभी संसाधन शायद नहीं जुटाये जा सकेंगे। उस दशा में औपचारिक-शिक्षा प्रणाली का विस्तार धीमा करने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए (क्योंकि 60 प्रतिशत से अधिक संसाधन जो कि उनमें लगता है, बेकार जाता है), तथा अधिकांश अतिरिक्त संसाधनों को अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों के विकास में लगा देना चाहिए।

(5) पांचवां और अन्तिम कारण मानवीय संसाधनों के विनियोग से सम्बद्ध है। शिक्षा में सबसे महत्वपूर्ण लागत धन की नहीं होती। अध्येता अपने जीवन का जो बहुत बड़ा भाग विनियोग करते हैं वह एक अमूल्य और अतुलनीय विनियोग है। उससे उन्हें जो हासिल होगा, वह इस पर निर्भर होगा कि अपने सबसे गतिशील एवं प्रतिबद्ध लोगों का कितना समय हम शिक्षा कार्यक्रमों के विकास में लगाते हैं। अतः अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रमों की सफलता और गुणवत्ता अन्ततः इस पर निर्भर करेगी कि भारत के गरीब आदमी की सेवा में इस कार्यक्रम के विकास हेतु हमारे प्रतिभाशील युवा स्त्री-पुरुष किस हद तक प्रतिबद्ध होने को तैयार हैं।

विश्व के विभिन्न देशों में और खासतौर से विकासशील देशों में अनौपचारिक-शिक्षा के भावी विकास-क्रम की क्या संभावनाएं हैं? इसका सर्वोत्तम उत्तर मैं अपने मित्र डॉक्टर फिलिप एच० कूम्स के उद्धरण से ही दे सकता हूं :

> इसमें सन्देह नहीं कि अनौपचारिक-शिक्षा ने जो व्यापक तथा सशक्त सरगर्मी इन बरसों में पैदा की है वह बढ़ती ही जायेगी और वह मात्र शैक्षिक सनक नहीं साबित होगी। फिर भी, यह डर है कि देशी और विदेशी अभिकरण—जो कि जबर्दस्त कारनामा और नतीजे दिखाने की अपनी व्यग्रता में, जिसके कारण भी सभी जानते हैं—इस मामले में भी अयथार्थवादी प्रत्याशाएं जमा सकते हैं। वे कहां जा रहे हैं, इसकी पर्याप्त योजना बनाये बगैर या रास्ते में आने वाले उतार-चढ़ाव का अनुमान लगाये बगैर ही तेजी से काम में डूब जायेंगे। सतर्क जांच-पड़ताल और नियोजन के बावजूद कुछ विफलताएं हाथ लग सकती हैं, पर ये संभवतः

> कम और पहले मिली विफलताओं से कम होंगी। मेरा अनुमान है कि अनुभव तथा आत्मविश्वास के संचय, और बेहतर नियोजन, प्रबन्ध, तथा मूल्यांकन की तकनीकों के विकास के साथ-साथ सफलता की रफ्तार भी बढ़ती जायेगी। मैं एक और भविष्यवाणी करने का खतरा उठाऊंगा, ज्यों-ज्यों अनौपचारिक-शिक्षा (अन्य शिक्षेतर कदमों के साथ) वंचित जनों को घोर दरिद्रता की असहायता से उबारने और तमाम क्षेत्रों एवं लक्ष्यों के विकास की रफ्तार बढ़ाने में नये-नये पथों का उद्घाटन करेगी और अपनी क्षमता प्रदर्शित करेगी, त्यों-त्यों वह न केवल आत्म-विश्वासी तथा प्रतिष्ठित होगी बल्कि स्वयं औपचारिक-शिक्षा में एक जबर्दस्त परिवर्तन की प्रेरणा देगी। शिक्षा की गिरती हुई साख को वह पुनः विकास में एक अच्छे विनियोग के रूप में स्थापित कर देगी।
>
> लेकिन आशावादी जान पड़ने वाली इस भविष्यवाणी के साथ ही मैं एक चेतावनी बलपूर्वक देना चाहूंगा। बहुत अनुकूल परिस्थितियां हों तब भी इन प्रगतियों के लिए लम्बे और दृढ़-प्रतिज्ञ प्रयत्नों की जरूरत पड़ेगी। फौरी और नाटकीय नतीजे चाहने वाले उतावलों का यह खेल नहीं है। विभिन्न स्थानों पर प्रगति की रफ्तार भी भिन्न होगी। जिन स्थानों में कठोर श्रम और बलिदान से प्राप्य भविष्य का प्रेरक स्वप्न पूरी जनता में व्याप्त कर देने वाला सशक्त, प्रगतिशील राजनीतिक नेतृत्व होगा वहां इसकी रफ्तार सबसे तेज होगी; जिन स्थानों में राजनेता बातें बड़ी और काम छोटे करते होंगे, क्योंकि उन्हें बुनियादी परिवर्तन से भय होगा तथा आम जनता के लिए सच्ची करुणा न होगी, वहां रफ्तार सबसे धीमी होगी। संक्षेप में, जैसा कि सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों तथा विकास के अत्यन्त जटिल धन्धे में लगे सभी लोग सीख चुके होंगे, हमें यथार्थपरक ढंग से धैर्य रखना होगा तथा हम चमत्कारों की आशा में न रहें।[1]

अपनी उम्र पूरी कर चुके एक बूढ़े आदमी के रूप में मैं बहुत आशा करता हूं कि कम से कम इस बार कुछ अच्छा कर दिखायें, अब तक जैसा करते आये हैं उससे कुछ बेहतर, क्योंकि उसे देखने और खुशी मनाने के समय तक शायद मैं न रहूं।

---

1. फिलिप एच. कूम्स : "नॉन फार्मल एजूकेशन : मिथ्स, रियलिटीज एण्ड अपार्चुनिटीज', काम्परेटिव एजुकेशन रिव्यू, 20 (3) अक्टूबर 1976।

परिशिष्ट-1

शिक्षा में राजनीतिक विषय-वस्तु*

मैं राजनीतिक एवं सामाजिक अध्ययन अकादमी और खास तौर पर इसके अध्यक्ष श्री आर. के. खाडिलकर का बहुत आभारी हूं कि उन्होंने मुझे शिक्षा में राजनीतिक विषयवस्तु जैसे महत्वपूर्ण किंतु अब तक उपेक्षित विषय पर आयोजित इस परिसम्वाद में प्रमुख व्याख्यान देने का आमंत्रण दिया है। सम्भवतः मैं इस सम्मान का पात्र नहीं हूं, पर इस सौभाग्य पर मुझे हमेशा गर्व रहेगा। मैंने पूर्ण विनम्रता से यह आमंत्रण स्वीकार किया है, इसलिए नहीं कि इस विषय पर मैं कोई बहुत महत्वपूर्ण योगदान कर सकूंगा, बल्कि इसलिए कि आप लोगों के विचार-विमर्श से मुझे निश्चय ही बहुत लाभ होगा। मुझे यह देखकर भी प्रसन्नता है कि आरंभिक वक्ता के रूप में मेरा कार्य अपेक्षाकृत आसान हो गया है। मुझे इस परिसम्वाद के लिए सिर्फ कुछ प्रासंगिक प्रश्न प्रस्तुत कर देना है और फिर आराम से बैठकर उन समाधानों को सुनते रहना है जो कि प्रत्याशित प्रेरक विचार-विमर्श से उभरेंगे।

इस परिसम्वाद का प्रमुख विषय यह है कि यदि लोगों को समुचित रूप से राजनीतिक शिक्षा देनी है तो शिक्षा-प्रणाली के विभिन्न स्तरों के पाठ्यक्रमों में राजनीतिक विषयवस्तु क्या हो। लेकिन इस समस्या पर तभी विचार-विमर्श संभव है जब देश में आवश्यक सामाजिक रूपांतरण लाने में शिक्षा की भूमिका, अपने सामाजिक और आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति हेतु हमें किस प्रकार की राजनीतिक शिक्षा देनी चाहिए, ऐसी शिक्षा देने में शिक्षा-प्रणाली की भूमिका, अतीत में हमारी शिक्षा-प्रणाली ने जो राजनीतिक शिक्षा प्रदान की है या इस समय कर रही है उसका स्वरूप और परिमाण, समुचित मात्रा में राजनीतिक शिक्षा के विकास में बाधक तत्व और मौजूदा असन्तोषजनक स्थिति को सुधारने के लिए कौन-से कदम उठाना जरूरी है, इत्यादि सम्बद्ध वृहत्तर प्रश्नों पर भी विचार किया जाय। मैं संक्षेप में इनमें से कुछ प्रश्नों पर विचार करना चाहूंगा।

---

1. एकेडेमी ऑफ़ पालिटिकल एंड सोशल स्टडीज, पूना, में 27-28 मार्च 1976 को आयोजित * परिषद में लेखक द्वारा दिया गया प्रमुख व्याख्यान।

शिक्षा और सामाजिक रूपांतरण

समूचे सामाजिक परिदृश्य पर राजनीतिक व्यवस्था का हमेशा वर्चस्व रहता है; इसीलिए जिनके हाथों में राजनीतिक बागडोर होती है वे सभी विभिन्न सामाजिक उप-प्रणालियों पर नियंत्रण रखने तथा अपने हित में उनका प्रयोग करने में प्रायः सफल रहते हैं। इसी कारण, सत्तारूढ़ सामाजिक समुदाय हमेशा ही शिक्षा-प्रणालियों को अपने ढंग से संचालित करते रहे हैं ताकि उनकी अपनी विशिष्ट स्थिति मजबूत हो और कायम रहे, खासकर उस समय जबकि शिक्षा-प्रणालियों का अस्तित्व ही राज्यसत्ता पर निर्भर हो। लेकिन यहीं पर एक अंत-विरोध है। अपने स्वार्थी लक्ष्यों की पूर्ति हेतु ये सत्तारूढ़ सामाजिक समुदाय सुविधाहीन समुदायों तक इन शिक्षा-प्रणालियों का लाभ विस्तृत करने के लिए बाध्य होते हैं। यह अपरिहार्य कार्य तीन तरह की सावधानियां बरतते हुए किया जाता है: (1) सुविधाप्राप्त समुदाय इन शिक्षा-प्रणालियों से प्रमुख रूप से लाभान्वित होने की स्थिति बनाये रखते हैं, उच्चतर शैक्षिक स्तरों पर, या प्रसिद्ध तथा गुणी संस्थाओं के मुख्य भाग पर या सर्वाधिक उपयोगी पाठ्यक्रमों पर हावी रहते हैं, ताकि जीवन के सभी क्षेत्रों में उनकी नेतागीरी बरकरार रहे; (2) शिक्षा प्रणाली कुछ इस तरह चलायी जाती है कि सुविधा-वंचित समुदाय वास्तव में केवल आंशिक लाभ उठा पाते हैं और उनके अधिकांश सदस्य या तो उस व्यवस्था-चक्र से हट जाते हैं या हटा दिये जाते हैं, और समाज में वे अपनी हीनतर हैसियत कबूल कर लेते हैं; और (3) तमाम अवरोधों के बावजूद कमजोरतर समुदायों के जो थोड़े-से लोग बच निकलते हैं और समूल हो जाते हैं उन्हें आमतौर पर उस व्यवस्था में अपना लिया जाता है ताकि असन्तोष न भड़क सके। लेकिन शिक्षा मूलतः एक मुक्तिदायिनी शक्ति है, जिसके कारण सुविधाहीन समुदाय धीरे-धीरे वास्तविकता को जान जाते हैं, शिक्षित व्यक्तियों की तादाद इतनी बढ़ जाती है कि उन्हें पूरी तरह व्यवस्था में खपाया नहीं जा सकता, और उनमें से अनेक सुयोग्य व्यक्ति कमजोर तथा सुविधाहीन समुदायों को संगठित तथा मुक्त करने का बीड़ा उठा लेते हैं। इसके परिणामस्वरूप जनता में जो जागृति आती है वह, तथा उचित संगठन, अनिवार्यतः सामाजिक ढांचे में फेर-बदल लाते हैं और ऊपर की दिशा में आवागमन की रफ्तार बढ़ जाती है जिससे नये-नये समुदाय सत्ता में भाग लेने लगते हैं, अन्ततः अन्य तरह के सामाजिक परिवर्तन भी होते हैं तथा परम्परागत, असमतापूर्ण और श्रेणीबद्ध सामाजिक ढांचे की जगह ऐसा ढांचा आता है जो अधिक आधुनिक, कम श्रेणीबद्ध और अधिक समतापूर्ण होता है। अस्तु, शिक्षा-प्रणाली कभी भी राजनीतिक रूप से तटस्थ या निरपेक्ष नहीं होती, और वह एक ही साथ तीन काम अन्जाम देती रहती है। वह सुविधाप्राप्त लोगों

को **प्रभुत्व जमाने** में मदद करती है, सुविधाहीन लोगों से समाज के भीतर उनकी अपनी हैसियत **स्वीकार** कराती है, और उत्पीड़ितों को **मुक्त करने** का भी रुझान रखती है। इनमें से कौन-सा कार्य सबसे आगे रहेगा और किस हद तक, यह बात अक्सर एक मूल तत्व पर निर्भर होती है, और वह है उस व्यवस्था द्वारा प्रदत्त राजनीतिक शिक्षा की गुणवत्ता तथा परिमाण, या कि उसकी 'राजनीतिक विषय-वस्तु'।

भारतीय समाज, राजतंत्र और शिक्षा में पिछले 175 वर्ष में जो कुछ हुआ है उसे इस व्यापक दर्शन की पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए। पुरातन काल से ही भारतीय समाज सदैव अभिजातवादी रहा है और सत्ता, सम्पत्ति तथा शिक्षा प्रायः तीन द्विज जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—तक सीमित रही है। जनता का अधिकांश भाग शूद्र (जो कमजोर, गरीब और प्रायः निरक्षर था), अंत्यज और जनजातियों में बंटा था (जो सामाजिक हाशिये पर जीते थे और जिनका भाग्य बदतर था)। गौर करने की बात यह है कि इस व्यवस्था में सामंजस्य रखने की या खपा लेने की अनन्त क्षमता है, और इसी कारण किसी भी मूलगामी रूपांतरण का यह घनघोर प्रतिरोध करती है। 2500 वर्ष के इतिहास के तमाम उतार-चढ़ाव के बावजूद यह व्यवस्था इसीलिए उन्नीसवीं सदी के आरंभ तक प्रायः अपरिवर्तित दशा में चलती रही, जब अंग्रेज प्रशासकों ने आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की नींव रखना शुरू किया।

अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य एक ऐसा वर्ग तैयार करना था जो उनके तथा शासितों के बीच दुभाषिये का काम करे। अतः उन्होंने जो शिक्षा-प्रणाली तैयार की वह मूलतः उन सत्ताधारी वर्गों के लिए थी जो स्वयं को आधुनिक बनाने तथा इस प्रकार अपनी ताकत और क्षमता बरकरार रखने में उसका उपयोग करने लगे। सामान्य जनों तक यह पहुंच ही नहीं सकी। 1947 में भी 6-11 वर्ष आयु समूह के तीन में से सिर्फ एक, और 11-14 वर्ष आयु-समूह के 11 में से सिर्फ एक बालक को स्कूल जाने का अवसर मिलता था, और साक्षरता केवल 14 प्रतिशत के आसपास थी। लेकिन सामान्य जनों तक जिस मात्रा में शिक्षा पहुंच सकी, उसने उन्हें केवल वर्तमान समाज-व्यवस्था में अपनी हैसियत हर संतोष करना ही सिखाया। निश्चय ही उसने एक मुक्तिदायक भूमिका भी अदा की, खासकर तब जब भारतीय लोगों को पाश्चात्य साहित्य, विज्ञान और प्रौद्योगिकी से परिचित कराया गया, या व्यक्तिवाद, जनतंत्र और उदारवाद की पश्चिमी अवधारणाएं फैलीं, या जब गरीब लोगों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों या लड़कियों तक शिक्षा पहुंची, या ऊपर की ओर आगमन के द्वारा खुले, लेकिन यह मुक्तिकारी शक्ति अत्यन्त अविकसित और परोक्ष ढंग की थी। मूलतः यह ऐसी व्यवस्था या प्रणाली थी जो मुक्त करने की अपेक्षा अनुगामी तथा आज्ञाकारी

अधिक बनाती थी।

इस प्रणाली ने किस तरह की राजनैतिक शिक्षा प्रदान की थी? इसने मुख्य रूप से लगभग हर क्षेत्र में भारत पर इंग्लैंड की श्रेष्ठता का प्रतिपादन और सम्राट् के प्रति वफादारी पैदा करने की कोशिश की। जब इन प्रयत्नों के बावजूद छात्रों और अध्यापकों के बीच राष्ट्रवाद के भाव उभरने लगे, तो उन्हें इसने 'अनुशासनहीनता' का नाम दे दिया और कुचलने की कोशिश की। सामाजिक क्षेत्र में सरकार की नीति मुख्यतः तटस्थता की थी। इस दुर्बल राजनीतिक विषय-वस्तु के कारण या जनता को विवेकयुक्त करने में विफल रहने के कारण ही इस शिक्षा-प्रणाली ने तीन समतापूर्ण परिवर्तन लाने की बजाय यथास्थिति बनाये रखने में मदद की। यही मुख्य वजह थी कि महात्मा गांधी ने छात्रों को सलाह दी थी कि यदि वे देश की सेवा करना चाहते हैं तो स्कूल और कालेज छोड़ दें, और उन्होंने स्थापित-औपचारिक-शिक्षा प्रणाली से अलग स्वतंत्र संस्थाएं बनाकर राष्ट्रीय शिक्षा देने तथा स्वतंत्रता-सेनानी तैयार करने का उपक्रम किया था।

परंतु यह ध्यान में रखना चाहिए कि शिक्षा प्रणाली की इस विफलता के बावजूद भारतीय जन वह राजनीतिक शिक्षा हासिल करने में सफल हुए जिसने आगे चलकर उन्हें आजादी पाने में मदद पहुंचायी। यह कार्य स्कूल-प्रणाली के बाहर, गांधीजी द्वारा अविजित मुक्ति-संग्राम के दौरान सम्पन्न हुआ। इसमें लाखों लोगों ने हिस्सा लिया और व्यक्तिगत लगाव के जरिये, 'कर्म से शिक्षा' के जरिये, राजनीतिक शिक्षा हासिल की। अतः गांधीजी देश में अनौपचारिक-शिक्षा के सर्वोत्तम प्रवक्ता थे, और गांधीजी के बाद का भारत उनके जमाने से पहले के भारत से बहुत अधिक भिन्न हो गया, उन्होंने सामान्य जनों में भी जो 'राजनीतिक साक्षरता' फैला दी, उसी से अन्त में हम एक संयुक्त जनतांत्रिक गणराज्य बन सके।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में क्या हुआ? ब्रिटिश हुकूमत के अन्तर्गत कांग्रेसी नेता तर्क देते थे कि राजनीतिक शिक्षा, शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग है और वे इस सरकारी दृष्टि को नामंजूर करते थे कि राजनीतिक तथा शिक्षा को एक दूसरे से अलग रखना चाहिए, पर 1947 में जब वे सत्ता में आये तो उन्होंने प्रायः वही ब्रिटिश नीति अपना ली और वे कहने लगे कि राजनीति शिक्षा को दूषित कर रही है: 'शिक्षा पर हाथ न लगाओ', यही इन राजनीतिक पार्टियों का नारा बन गया। लेकिन इसके बावजूद शिक्षा प्रणाली में राजनीतिक घुसपैठ इस अर्थ में बहुत बढ़ गयी है कि शिक्षकों और छात्रों का मन जीतने की होड़ में विभिन्न राजनीतिक पार्टियां जी-जान से लगी हैं। किसी ने फ़ब्ती कसी है कि राजनीतिज्ञ न केवल किसी के जलते घर में हाथ सेकना चाहते हैं, बल्कि घरों में आग लगाते हैं ताकि अपने हाथ सेक सकें। चतुर शिक्षाविद् राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त राजनीतिक

समर्थन पाने की फ़िराक़ में थे। वास्तव में हमें मिला यह है कि राजनीतिक हस्तक्षेप अनन्त है जबकि वास्तविक राजनीतिक समर्थन नगण्य या बिल्कुल भी नहीं। यह भी स्पष्ट है कि राजनीतिक पार्टियों द्वारा अपने निजी स्वार्थ से शिक्षा प्रणाली में हस्तक्षेप कोई राजनीतिक शिक्षा नहीं है, और जब अभिजातवाद का चौतरफ़ा प्रसार हो रहा हो, तब इसमें आश्चर्य की क्या बात है कि स्कूल-प्रणाली के अंतर्गत सच्ची राजनीतिक शिक्षा (जिसका वास्तविक अर्थ है सामाजिक रूपांतरण के लिए प्रतिबद्धता पैदा करना) स्वातंत्र्य-पूर्व युग से भी अधिक कमज़ोर हो गयी है।

साथ ही साथ, स्वातंत्र्य-संग्राम समाप्त हो गया और राजनीतिक शिक्षा का मुख्य अनौपचारिक वाहन लुप्त हो गया। समाचारपत्र कुछ-न-कुछ राजनीतिक शिक्षा दे सकते थे और उन्होंने दी। पर उन्होंने कई भूलें कीं और अवसर का पूरा फ़ायदा नहीं उठाया, खासकर भारतीय भाषाओं के पत्र पर्याप्त विकसित नहीं हुए तथा निहित स्वार्थों की जकड़न हावी रही। अब तो समुचित राजनीतिक शिक्षा देने की अखबारों की क्षमता भी काफ़ी कम कर दी गयी है। राजनीतिक पार्टियों तथा स्कूल प्रणाली के बाहर अन्य संस्थाओं और माध्यमों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है जिनमें कि राजनीतिक शिक्षण की अपेक्षा की जा सकती थी। सभी बातों पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में हमने सच्ची राजनीतिक शिक्षा के मामले में कोई प्रगति नहीं की है तथा कुछ मामलों में हम पीछे भी जा गिरे हैं। उदाहरणार्थ, शिक्षा प्रणाली अधिकाधिक अभिजात-मुखी हो गयी है। सामान्यजनों को उससे शायद ही कुछ मिलता है — लगभग 60 प्रतिशत जनता आज भी निरक्षर है। पहली बलि देशभक्ति की चढ़ी है। गांधीजी ने सरकार के ग़लत होने पर उसका मर्यादित ढंग से और बुनियादी सिद्धान्तों पर विरोध करने का साहस दिया था (वह साधनों को साध्य जितना ही महत्वपूर्ण मानते थे) और उन्होंने हमें गरीबों को लामबन्द करने तथा संगठित करने का कार्य सिखाया था। आज हम चुनावबाज़ी पर अत्यधिक ज़ोर देकर जनता से वास्तविक संपर्क खो चुके हैं, जन-लामबन्दी का लोप हो चुका है और हम बुनियादी मसलों पर मर्यादा के साथ लड़ने का साहस तक खो चुके हैं, क्योंकि व्यक्तिगत, समूहगत या पार्टीगत स्वार्थ-साधना में आन्दोलनात्मक तथा अराजकता की राजनीति का इस्तेमाल आम बात हो गयी है। आज की शिक्षा-प्रणाली इसीलिए स्वातंत्र्यपूर्व काल की तरह ही सुविधा प्राप्त समूहों के वर्चस्व में, और सुविधाहीन लोगों को पालतू बनाने या खपा लेने में मदद करती है और आवश्यक परिमाण में मुक्तिदायी शक्तियों को बल नहीं पहुंचाती — यदि हम समुचित मात्रा में सच्ची राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने के लिए पुरअसर कदम न उठायेंगे तो यह स्थिति नहीं बदलेगी। आज हमें जिन मुख्य शैक्षिक सुधारों की ज़रूरत है उनमें से यह एक है, और यदि यह न किया गया तो औपचारिक-शिक्षा की वर्तमान प्रणाली

का मात्र **मौखिक** प्रसार यथास्थिति को ही पुष्ट करेगा तथा मूलगामी सामाजिक रूपांतरण को अवरुद्ध करेगा।

राजनीतिक शिक्षा

मैं अब दूसरी समस्या पर आता हूं — सच्ची राजनीतिक शिक्षा क्या है और इसके लक्ष्य, विषय-वस्तु, पद्धतियां और माध्यम क्या हैं ? मैं एक-एक कर इन समस्याओं को लूंगा।

(1) **परिभाषा** : राजनीतिक शिक्षा क्या है ?[1] चूंकि किसी भी देश के सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति सभी नागरिकों की जागरूक, जिम्मेदार और अनवरत राजनीतिक क्रियाशीलता से ही संभव है, इसलिए राजनीतिक शिक्षा की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है — देश के सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए राष्ट्रीय संघर्ष में भागीदार बनाने के उद्देश्य से नागरिक को जागरूक, जिम्मेदार और अनवरत क्रियाशीलता के लिए तैयार करना। जैसा कि मैंने पहले कहा, भारत में सर्वप्रमुख सामाजिक-आर्थिक लक्ष्य है गरीबी का उन्मूलन (इस अर्थ में कि प्रत्येक व्यक्ति को एक न्यूनतम आवश्यक जीवन-स्तर सुलभ हो) और एक आधुनिक, जनतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी समाज की स्थापना करना जो वर्तमान पारंपरिक, सामंती, श्रेणीबद्ध और असमतापूर्ण समाज की जगह ले ले।

(2) **लक्ष्य और विषय-वस्तु** : समस्त शिक्षा मूलतः एक तिहरी प्रक्रिया है जो —

आवश्यक जानकारी प्रदान करती है;
वास्तविक जीवन में उत्पन्न होने वाली दैनंदिन समस्याओं का अर्जित ज्ञान के सहारे हल निकालने या उनका सामना करने के लिए आवश्यक हुनर तैयार करती हैं; और
आवश्यक रुचियों, दृष्टिकोण और मूल्यों की प्रस्थापना करती है।

यह बात राजनीतिक-शिक्षा पर भी लागू होती है; इसलिए राजनीतिक शिक्षा की विषय-वस्तु **ज्ञान, हुनर और मूल्यों** से निर्मित होगी जिन्हें पाकर प्रत्येक नागरिक सामाजिक रूपांतरण के राष्ट्रीय उपक्रम में एक बुद्धिमान, कारगर और दायित्वशील भागीदार बन सके। यह भी लक्ष्य किया जाना चाहिए कि ये तीनों तत्व महत्वपूर्ण हैं तथा इन्हें साथ-साथ, एक दूसरे को नियमित करते हुए, विकसित

1. मैं 'नागरिकत्व के लिए शिक्षा' पदावलि का उपयोग करने के पक्ष में नहीं हूं, इसके दो कारण है : यह ऐसी पदावलि है जो विकसित राष्ट्रों में पनपी है तथा विकासशील राष्ट्रों की परिस्थितियों के लिए पूर्णतः उपयुक्त नहीं है; और इसका अर्थ अक्सर मुक्ति की नहीं, अनुपालन या अनुकारिता की शिक्षा होता है।

करना होगा। मात्र ज्ञान से राजनीतिक शिक्षा के ध्येय पूरे नहीं होते क्योंकि उसके लिए समुचित कौशल पर आधारित कारगर भागीदारी आवश्यक होती है। इसी तरह विचारहीन या अल्पज्ञानी हिस्सेदारी भी अवांछनीय है; और एक समुचित मूल्य-व्यवस्था के अनुशासन के बगैर मात्र ज्ञान या हिस्सेदारी सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों को साकार नहीं करा सकती।

(क) ज्ञान : राजनीतिक शिक्षा के लिए जिन वस्तुओं का ज्ञान आवश्यक है, उनमें मुख्य हैं :

वर्तमान समाज; उसका ऐतिहासिक विकास, उसकी मूल्य-व्यवस्था : सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक; शैक्षिक एवं राजनीतिक ढांचे, राज्य-सत्ता का वितरण, समाज की मुख्य शक्तियां और दुर्बलताएं;

राष्ट्र जिस नये समाज की रचना की आकांक्षा रखता है; उसकी मूल्य-व्यवस्था; इस रूपांतरण की प्रक्रियाएं और विभिन्न चरण और उसे समर्थन देने वाली सामाजिक-राजनीतिक शक्तियों की पहचान; नये समाज की रचना में व्यक्तियों और सामाजिक समूहों या संस्थाओं की भूमिका;

देश की वर्तमान शासन-प्रणाली (शासनतंत्र, प्रक्रियाएं, शक्ति); उसकी क्षमताएं तथा दुर्बलताएं, वैकल्पिक शासन-प्रणालियां तथा उनकी क्षमताएं एवं दुर्बलताएं, विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों में निहित मूल्य-व्यवस्थाएं;

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में देश की मौजूदा बुनियादी समस्याएं;

देश की विकासात्मक योजनाएं, विकास की वैकल्पिक पद्धतियां और उनकी क्षमताएं तथा दुर्बलताएं;

चूंकि उपर्युक्त तथ्यों के बारे में जानकारी निरन्तर बदलती रहती है (जैसा कि स्वयं तथ्य भी बदलते हैं), राजनीतिक शिक्षा का कोई भी कार्यक्रम केवल एक बार में सारा ज्ञान देकर चुप हो जाय, ऐसा नहीं हो सकता। इसके विपरीत, उसे ऐसी आत्माध्ययन-प्रणालियां बनानी चाहिए जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने आप ज्ञानार्जन में समर्थ बनाये और वह स्वयं अपने प्रयत्नों से ताजातरीन जानकारी से लैस रह सके। इस मार्ग में अवश्य ही यह मांग निहित है कि समाज 'खुले' आधार पर संचालित हो। तमाम आवश्यक तथ्यों की जानकारी हर व्यक्ति की पहुंच में हो।

(ख) हुनर : राजनीतिक शिक्षा का मूलतत्व है भागीदारी या क्रियाशीलता। नागरिक को न केवल राजनीतिक रूप से बुद्धिमान होना चाहिए, बल्कि राजनीतिक दृष्टि से कारगर भी। मसलन, वह राजनीतिक व्यवस्था के समुचित संचालन में मदद करने में समर्थ हो, उसके भटकावों को सुधार सके और वांछित

सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों को प्रभावित तथा प्राप्त करने की रणनीतियां बना सके। इस हेतु कई तरह की कुशलताओं की अपेक्षा होगी जिनमें से नीचे लिखी उल्लेखनीय हैं :

समझने और मूल्यांकन करने की कुशलता। उदाहरणार्थ, विभिन्न क्षेत्रों या विभिन्न स्तरों पर समकालीन राजनीतिक स्थिति की समझ, अपने तथा अन्य लोगों के दृष्टिकोणों तथा कार्रवाई के परिणाम समझने की सामर्थ्य; नीतिगत विचारों का विकास तथा नीतिगत बाह्य उपकरणों और क्रियान्वयन की समझ; राजनीतिक अवधारणाओं की रचना और प्रयोग की क्षमता;

समस्या का हल करने के हुनर अर्थात्, किसी राजनीतिक स्थिति का आकलन करना और व्यक्तिगत, सामूहिक या सामाजिक स्तर पर उसे हल करने के लिए आवश्यक कदमों का निर्णय करना;

समूहों में काम करने, अन्य लोगों के विचार समझने और सम्मान करने, अपनी असहमति को गालियों या हाथापाई द्वारा नहीं बल्कि तर्क तक सीमित रखना;

तमाम तरह के द्वन्द्वों को समझने (उदाहरणार्थ, विभिन्न समूहों, विभिन्न कार्यक्रमों, विभिन्न मूल्यों इत्यादि के बीच उत्पन्न होने वाले द्वन्द्व), और उनका समुचित ढंग से सामना करने की योग्यता; और

राजनीतिक प्रश्नों पर आत्माभिव्यक्ति की योग्यता, ताकि भागीदारी में अनिवार्य कारगर संप्रेषण संभव हो।

(ग) मूल्य : हर सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था अपनी विशिष्ट मूल्य-संरचना पर आधारित होती है। उनमें से कुछ तो बुनियादी और शाश्वत होते हैं, यथा, मनुष्य की प्रतिष्ठा और स्वायत्तता, समता या सामाजिक न्याय। खुली जनतांत्रिक व्यवस्थाएं—स्वतन्त्रता, सहिष्णुता, न्यायप्रियता, सत्यनिष्ठा, और तार्किकता के मूल्यों पर जोर देती हैं। आत्मचेतना, आत्मालोचना और हर वस्तु के प्रति एक खास तरह की शंका का भाव, खासकर कठमुल्ले या उन्मादी विचार के प्रति शंका का भाव इत्यादि का महत्व स्वत: प्रकट है।

यहां एक खास मुद्दे पर गौर करना चाहिए। आवश्यक ज्ञान, हुनर और मूल्य हर व्यक्ति एक-से स्तर पर अर्जित करे यह जरूरी नहीं; और इस क्षेत्र में उपलब्धि का स्तर शिक्षा के विभिन्न चरणों पर अलग-अलग हो सकता है (मसलन, प्राथमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालयी स्तरों पर छात्र को क्रमश: उच्चतर स्तर पाने का प्रयत्न करना चाहिए) और एक ही चरण में भिन्न-भिन्न छात्र-समूहों में यह अलग-अलग हो सकता है (उदाहरणार्थ, राजनीतिशास्त्र का छात्र विश्वविद्यालय में पशु मनोविज्ञान या रसायनशास्त्र के समकक्ष छात्र से भिन्न

स्तर पर होगा)। इससे शिक्षादाता, समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक और राजनीति-शास्त्री के सामने चुनौती आयेगी कि वे मिल-जुल कर शिक्षा के हर स्तर पर समुचित पाठ्यक्रम तैयार करें, जो उस चरण में छात्रों की आयु और परिपक्वता के अनुकूल हों।

(3) **पद्धतियां** : शिक्षा तीन विधियों से दी जाती है : आकस्मिक, अनौपचारिक और औपचारिक। 'आकस्मिक' शिक्षा से हमारा तात्पर्य उस शिक्षा से है जो जीवन की प्रक्रिया में अपने आप मिलती है (उदाहरणार्थ, परिवार में बच्चे द्वारा भाषा का पहला ज्ञान)। 'अनौपचारिक-शिक्षा' से हमारा तात्पर्य उस संगठित शिक्षा से है जो स्कूल प्रणाली से बाहर समाज में प्राप्त होती है (उदाहरणार्थ संचार साधनों के जरिये, जन आंदोलनों में हिस्सेदारी के जरिये, इत्यादि) तथा औपचारिक-शिक्षा वह जो औपचारिक स्कूल प्रणाली के जरिये हासिल होती है।

अतएव राजनीतिक शिक्षा भी इन तीनों तरीकों से प्रदान की जाती है : आकस्मिक, अनौपचारिक और औपचारिक।

(क) **आकस्मिक** : राजनीति प्राणवायु की तरह है : सामाजिक परिवेश में यह हर जगह व्याप्त है और प्रत्येक नागरिक इसे ग्रहण कर रहा है या कि सारे समय एक तरह की राजनीतिक शिक्षा पा रहा है। मसलन राजनेताओं के भाषणों और कर्मों से, राजनितिक पार्टियों के व्यवहार से, विभिन्न सामाजिक समुदायों के व्यवहार तथा विरोधी परिस्थितियों पर उनकी प्रतिक्रिया से तथा ऐसी अन्य घटनाओं से। बच्चे और युवक जिन लोगों के संपर्क में आते हैं, उनसे खासतौर से प्रभावित होते हैं, उनके हुनर और व्यवहार की नकल करते हैं और उनकी मूल्य-व्यवस्थाओं को आत्मसात् करते हैं। हमारे जैसे किसी पारंपरिक, असमतापूर्ण, सामंती, और श्रेणीबद्ध समाज के बच्चे आकस्मिक रूप से, उस समाज में पलने की प्रक्रिया में ही उस मूल्य-व्यवस्था को आत्मसात् कर लेते हैं; और यदि अनौपचारिक एवं औपचारिक रीतियों से कारगर ढंग से प्रतिकारात्मक कार्रवाई करके उन्हें पुनः दीक्षित न किया जाय तो आकस्मिक पद्धतियों से उन्हें गलत ढंग की राजनीतिक शिक्षा मिलने का खतरा रहता है, जो सामाजिक रूपांतरण की बजाय यथास्थिति को पुष्ट करता है। अतएव, हमारे समाज में राजनीतिक शिक्षा की औपचारिक और अनौपचारिक पद्धतियों का विकास करना परम आवश्यक है।

(ख) **औपचारिक** : औपचारिक-शिक्षा प्रणाली के प्रत्येक चरण में राजनीतिक शिक्षा एक अनिवार्य अंग के रूप में होनी चाहिए। पर इसमें कई तरह की समस्याएं हैं :

> इन दिनों स्कूल में राजनीतिक शिक्षा को नागरिकशास्त्र या नागरिकत्व में शिक्षा के समतुल्य मान लिया जाता है। इसके अंतर्गत संविधान और पंचवर्षीय योजनाओं की नीरस और निष्प्रभाव खिचड़ी परोस दी जाती है और इसमें आवश्यक मात्रा में जानकारी तक नहीं होती। हुनर हासिल करने और खासकर मूल्यों की प्रस्थापना की सर्वथा उपेक्षा होती है। शिक्षण-विधियां अधिकतर तोता-रटंत पर आधारित हैं और 'कर्म' के नाम पर बेहूदी चीजें सिखायी जाती हैं (जैसे प्राथमिक स्कूल की संसद बना कर मंत्रियों और मंत्रिमंडल का चुनाव कराना)। इस तरह दिये गये राजनीतिक शिक्षण में कोई तत्त्व नहीं है।
>
> परिमाण की दृष्टि से भी समस्या विकट ही है। प्राथमिक स्तर पर हम सार्वभौम या सार्वजनीन शिक्षा सुलभ नहीं करा पाये हैं। माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयी स्तरों पर 15-25 वर्ष आयु के बच्चों में से केवल 10 प्रतिशत के लगभग बच्चे पढ़ पाते हैं, तथा अनिवार्य विषयों को छोड़कर अन्य विषय बहुत ही कम लोग पढ़ते हैं।
>
> इस समस्या में खास दिलचस्पी और निदान के लिए कोई निरन्तर प्रयत्न भी नहीं है। कहीं भी उच्चस्तरीय दल इन समस्याओं के बारे में कार्यरत नहीं हैं। अध्ययन-सामग्री अच्छी नहीं मिलती। शिक्षकों को समुचित प्रशिक्षण या दिशा-निर्देश अनुपलब्ध हैं। अनुसंधान नगण्य है और हमें यह भी पता नहीं है कि यह प्रणाली व्यवहारतः कैसी चल रही है।

इसलिए औपचारिक-शिक्षा के क्षेत्र में भी हमें बहुत बड़े दायित्वों से निबटना है।

(ग) **अनौपचारिक** : हमें यह याद रखना चाहिए कि राजनीतिक शिक्षा अनौपचारिक माध्यमों से ही सर्वाधिक प्रगति कर सकती है। राजनीतिक शिक्षा की सर्वाधिक ज़रूरत ग़रीब और सुविधाहीन लोगों को है तथा उन तक औपचारिक-शिक्षा पहुंच भी नहीं पाती। 15-25 वर्ष आयु के युवजनों में राजनीतिक शिक्षा सबसे अधिक प्रभावशील हो सकती है, पर उन तक पहुंचने के लिए भी प्रायः अनौपचारिक-शिक्षा का सहारा लेना पड़ेगा। पर इस समय ये कार्यक्रम हैं ही नहीं। बहरहाल, राजनीतिक शिक्षा (अर्थात् कर्म से अध्ययन) प्रदान करने का सबसे अच्छा तरीक़ा है—बच्चों, युवजनों और वयस्कों को विकास-कार्यक्रमों में संलग्न कराना और सुविधाहीन अवाम को उनका जीवन सुधारने के लिए संगठित करना। पर इस कार्य की प्रायः सभी ने पूर्ण उपेक्षा की है। इन अनौपचारिक तकनीकों को ही प्राथमिकता देनी पड़ेगी।

(4) **नतीजे** : अभी तक मैंने तीनों तरह की राजनीतिक शिक्षा में विनियोजित होने वाले तत्त्वों की ही चर्चा की है : आकस्मिक, औपचारिक, अनौपचारिक। पर यह पर्याप्त नहीं है। इसलिए मैं राजनीतिक शिक्षा के नतीजों या उससे अपेक्षित ठोस परिणामों के बारे में कुछ शब्द कहूंगा।

हमारा पहला लक्ष्य सभी व्यक्तियों को एक बुनियादी न्यूनतम राजनीतिक

शिक्षा प्रदान करना होना चाहिए ताकि वे बुद्धिमान, प्रभावी, और जिम्मेदार नागरिक बन सकें। इसे हम **राजनीतिक साक्षरता** कह सकते हैं और इसका प्रयत्न प्राथमिक स्तर पर होना चाहिए। इस शिक्षा में एक व्यक्ति के लिए आवश्यक सभी प्रकार के हुनर, ज्ञान और दृष्टिकोणों का समावेश होना चाहिए। उदाहरणार्थ, राजनीतिक रूप से साक्षर व्यक्ति को पता होना चाहिए कि समकालीन राजनीति के प्रमुख प्रश्न क्या हैं और उसे उनके बारे में अधिक जानकारी हासिल करने की तरकीब भी मालूम होनी चाहिए। तभी उसे पता लगेगा कि मुख्य राजनीतिक विवाद किस चीज़ को लेकर हैं, मुख्य पक्षधरों की धारणाएं क्या हैं, उनका उस पर क्या प्रभाव पड़ता है, और उस बाबत वह क्या कर सकता है या करना चाहिए। लेकिन राजनीतिक साक्षरता मात्र ज्ञान या सैद्धांतिक विश्लेषण नहीं है। इससे भी अधिक महत्व इस बात का है कि यह हुनर और मूल्यों पर आधारित क्रियाशीलता या कार्रवाई है। यही कारण है कि राजनीतिक साक्षरता सामान्य साक्षरता हासिल करने से भी अधिक कठिन है। आसानी से यह कल्पना की जा सकती है कि हमारे बीच राजनीतिक निरक्षरता भयानक सीमा में है।

वह ज्ञान, हुनर और दृष्टिकोण, जिनकी ज़रूरत नेतृवर्ग को विभिन्न स्तरों पर होती है, राजनीतिक साक्षरता की अपेक्षा उच्चतर श्रेणी में आते हैं। विभिन्न स्तरों पर (मसलन, स्थानीय पंचायत, ज़िला, राज्य, या केन्द्र के स्तर) या कृषि, उद्योग अथवा जनसेवा जैसे विभिन्न जीवनगत क्षेत्रों में समस्याओं से जूझने में जो जटिलता है, उसमें अपार वैविध्य मिलेगा, और फलतः इन सभी स्तरों पर ऐसे सभी क्षेत्रों में नेतृवर्ग में राजनीतिक शिक्षा के विभिन्न कौशल-स्तर आवश्यक होंगे। राजनीतिक शिक्षा के हमारे कार्यक्रमों में माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयी स्तरों पर, स्कूल के बाहर के युवकों तथा वयस्कों की अनौपचारिक-शिक्षा के ज़रिये इस कार्य का प्रावधान रहना चाहिए।

इसी समस्या को दूसरी तरह इस प्रकार देख सकते हैं कि राजनीतिक शिक्षा ऐसे व्यक्तियों की रचना करे जो निम्नलिखित तीन राजनातिक कर्म के स्तरों पर काम कर सकें :

(क) विशुद्ध तथा समुचित संरक्षण के स्तर पर (उदाहरणार्थ, यह जानना कि हमारी शासन-प्रणाली कैसे चलती है और उसकी मूलभूत मान्यताएं क्या हैं);

(ख) सक्रिय नागरिकत्व के लिए जरूरी ज्ञान, हुनर और मूल्यों का विकास करने में उदारवादी या शिरकत का स्तर;

(ग) व्यक्तिगत जोखिम उठाकर या अपनी जान की भी बाज़ी लगा कर व्यक्ति जहां सरकार की दिशा बदलने या बुनियादी तौर पर वैकल्पिक व्यवस्थाएं चलाने की कोशिश करता है, वह सर्वोच्च स्तर। यह स्तर महात्मा गांधी द्वारा प्रदत्त **सत्याग्रह** की धारणा के लगभग बराबर है।

राजनीतिक शिक्षा का अपना सैद्धांतिक पक्ष है जिसे कक्षा में या औपचारिक शिक्षण के अन्य माध्यमों से पढ़ाया जा सकता है, पर चूंकि यह आवश्यक तौर पर कार्रवाई का कार्यक्रम है, उसे 'कर्म से अध्ययन' की पद्धति से ही सीखना होगा। छात्र संघ और शिक्षक संघ जैसे संगठनों को आगे बढ़ाना होगा तथा शिक्षा प्रणाली के भीतर उन्हें समुचित ढंग से चलाना होगा ताकि शिरकत या भागीदारी की कार्रवाई के ज़रिये सही ढंग का राजनीतिक शिक्षण दिया जा सके। पर जनलामबंदी तथा विकास कार्यक्रमों में जन-संलग्नता के राष्ट्रव्यापी कार्यक्रमों की रचना ही शायद अच्छी राजनीतिक शिक्षा की सर्वोत्तम विधि साबित होगी। जैसा कि मैंने पहले कहा, यह विधि स्वातंत्र्यपूर्ण भारत में राजनीतिक आजादी के लिए किये गये संघर्ष का ही प्रतिरूप होगी।

(5) **माध्यम** : राजनीतिक शिक्षा किन माध्यमों से दी जाएगी? शिक्षा प्रणाली में स्वयं औपचारिक स्कूल व्यवस्था राजनीतिक शिक्षा का गौण माध्यम मात्र है, और जैसा मैंने पहले भी कहा, 15-25 की आयु के ग़ैर स्कूली युवकों को समेटने वाली अनौपचारिक प्रणाली ही अधिक सशक्त और प्रभविष्णु माध्यम है। पर यह न भूलें कि औपचारिक या अनौपचारिक, दोनों शिक्षा प्रणालियां राजनीतिक शिक्षा के कई माध्यमों में मात्र एक माध्यम हैं, और सो भी गौण माध्यम। अन्य अनेक माध्यम हैं जिन्हें अन्य शिक्षाओं के कार्यक्रमों की ही तरह राजनीतिक शिक्षा के कार्यक्रमों में भी भूमिका अदा करनी है - राजनीतिक शिक्षा समाचार-पत्रों, रेडियो-टेलीविज़न जैसे जनसंचार साधनों; विभिन्न स्तरों पर स्थानीय निकाय, राज्य सरकार और केंद्र सरकार के विभिन्न साधनों तथा राजनीतिक पार्टियों (खासकर वामपंथी पार्टियों) द्वारा आगे बढ़ाया जाना चाहिए।

कार्रवाई का कार्यक्रम

मित्रो, मैंने आपका काफ़ी समय ले लिया। पर समापन से पूर्व मैं इस परिसंवाद के दूसरे मुख्य विषय का जिक्र कर देना चाहूंगा, और वह है कि कार्रवाई के ऐसे कार्यक्रम की रूपरेखा को तैयार किया जाय जिसे राजनीतिक एवं सामाजिक अध्ययन अकादमी, पूना, इस क्षेत्र में रुचि रखनेवाली अन्य संस्थाओं के सहयोग से 3 से 5 वर्ष के भीतर विकसित कर सके। मेरी राय में इस कार्यक्रम में शोध, प्रकाशन, प्रयोग, शिक्षकों तथा छात्र नेताओं का प्रशिक्षण, और जनशिक्षा अभियानों का आयोजन सम्मिलित रहना चाहिए। कार्यक्रम के अन्तिम लक्ष्य तीन होंगे : (1) सरकार की नीतियों और अधिकृत शिक्षा प्रणाली को इस तरह प्रभावित करना कि उसके अन्तर्गत समुचित पैमाने पर उचित राजनीतिक शिक्षा का कार्यक्रम शामिल हो जाय; (2) कार्यक्रमों तथा उनके विभिन्न पक्षों पर

गहरी अन्तर्दृष्टि तथा समझदारी प्राप्त करना; (3) राजनीतिक शिक्षा की समस्याओं से निबटने के लिए एक साथ विभिन्न विषयों में निष्णात व्यक्तियों को बड़ी संख्या में तैयार करना। मुझे आशा है कि यह परिसंवाद इन चारों महत्व-पूर्ण फैसलों के लिए पर्याप्त समय निकाल सकेगा।

मैं राजनीतिक एवं सामाजिक अध्ययन अकादमी, पूना, को बधाई देता हूं कि उसने शिक्षा, समाज और राजनीति के अन्तःसम्बन्ध के अध्ययन का यह कार्य-क्रम आरम्भ किया है। इस अन्तःसम्बन्ध के बुनियादी अध्ययन से ही हम सामा-जिक रूपांतरण और राजनीतिक कार्रवाई के कार्यक्रम विकसित कर सकेंगे।

मुझे आशा है कि इस निर्णायक महत्व के कार्यक्रम के विकास में अकादमी अन्य संस्थाओं का सहयोग तथा सहकार पाने का पूरा-पूरा प्रयत्न करेगी और मुझे यह भी आशा है कि इसके प्रयत्न सफल होंगे।

स्कूल-पूर्व बच्चों के लिए अनौपचारिक-शिक्षा

स्कूल-पूर्व बच्चों (3-5 वर्ष आयु) के लिए अनौपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम सुविदित हैं। इसके लिए एक नियमित संस्था, जिसका अपना भवन, पर्याप्त उप-करण और पूर्णकालिक प्रशिक्षित शिक्षक की अपेक्षा की जाती है (शिक्षक आम तौर पर एक या दो वर्ष का विशेष पेशेगत प्रशिक्षण प्राप्त मैट्रिक पास व्यक्ति होता है)। स्वाभाविक है कि इस कार्यक्रम में खर्च बढ़ जाता है और स्कूल-पूर्व शिक्षा प्राथमिक शिक्षा से भी अधिक महंगी हो जाती है। इस समय हम इस आयु-समूह के केवल दो प्रतिशत बच्चों को स्कूल-पूर्व शिक्षा दे रहे हैं। अधिकांश स्कूल-पूर्व बच्चे शहरी, मध्यवर्ग और खाते-पीते परिवारों के होते हैं। मौजूदा खर्च का स्तर देखते हुए हम इसे आगे, पांच प्रतिशत बच्चों के लिए भी नहीं बढ़ा सकते। चूंकि प्रशिक्षित तथा शिक्षित स्त्रियां गांवों में नहीं जाना चाहतीं, इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूल-पूर्व अनौपचारिक-शिक्षा का विस्तार अत्यन्त कठिन है।

लेकिन औपचारिक-शिक्षा के कार्यक्रम शहरी तथा ग्रामीण इलाकों में स्कूलों के बाहर के बच्चों को स्कूल-पूर्व शिक्षा देने में बहुत मददगार हो सकते हैं। निम्न-लिखित अनुच्छेदों में उन कुछ प्रयोगों का वर्णन है जो इस दृष्टि से किये जा रहे हैं :

(1) शिशु खेलकूद केंद्र

इन केंद्रों का उद्देश्य छोटे बच्चों को लगभग डेढ़ घंटे के लिए प्रतिदिन खेल-कूद, नाच-गाने, किस्सा-कहानी और अन्य संबद्ध अनौपचारिक गतिविधियों में एकत्र करना है। ऐसे कुछ केंद स्वयं प्राथमिक शिक्षकों द्वारा प्राथमिक शालाओं के सहयोग से चलाये जा रहे हैं, जिन्हें इसके लिए समय या कुछ भत्ता दिया जाता है। काफी सारे केंद्र शिक्षकेतर लोग भी चलाते हैं, आमतौर पर स्त्रियां, जिन्हें इस हेतु चुना तथा प्रशिक्षित किया जाता है।

(2) तमिलनाडु प्रयोग

तमिलनाडु में एक साहसिक तथा कल्पनाशील प्रयोग किया जा रहा है। वहां

थोड़ी पढ़ी-लिखी स्थानीय स्त्रियों को संक्षिप्त सघन प्रशिक्षण दिया जाता है और उन्हें औपचारिक स्कूल-पूर्व संस्थाओं या बालबाड़ियों का कार्यभार सौंप दिया जाता है। उन्हें अपने काम के लिए थोड़ा-सा भत्ता दिया जाता है और उनके कार्य की सूक्ष्म देखरेख तथा मार्ग दर्शन का प्रबंध किया जाता है। इस कार्यक्रम पर खर्च कम आता है और प्राप्त संसाधनों के अंतर्गत भी इसका काफी विस्तार किया जा सकता है।

(3) आंगनबाड़ी

महाराष्ट्र में यह प्रयोग किया जा रहा है। इस कार्यक्रम में पौष्टिक भोजन, स्वास्थ्य सेवा और अनौपचारिक-शिक्षा सम्मिलित है। इसे चुनी हुई स्थानीय स्त्रियां (जो प्रायः शिक्षक नहीं हैं) चलाती हैं, उन्हें इसके लिए मामूली भत्ते और कार्य का संक्षिप्त प्रशिक्षण दिया जाता है।

(4) दिन में देखभाल के चलते-फिरते केंद्र

नयी दिल्ली के ये केंद्र अनौपचारिक-शिक्षा का एक और दिलचस्प प्रयोग प्रस्तुत कर रहे हैं। इस कार्यक्रम में 3 वर्ष, 3 से 6 वर्ष और 6 से 10 वर्ष के बच्चों के तीन समूह लिये जाते हैं। आयु समूह का कोई कठोर विलगाव नहीं किया जाता, तथा छोटे बच्चों के साथ अक्सर बड़े बच्चे बैठ जाते हैं तथा उनकी देख-भाल करते हैं। इस कार्यक्रम में अनौपचारिक-शिक्षा काफी लचीलेपन और बच्चों की जरूरतों तथा रुचियों के अनुकूलन के साथ सम्मिलित है। इनका संचालन एक नियमित प्रशिक्षित प्रभारी शिक्षक की देखरेख में, चुने हुए मजदूरों के द्वारा होता है।

(5) शिशुगृह तथा प्राथमिक स्कूलों स जुड़े स्कूल-पूर्व संस्थान

अनेक बच्चों को, खासकर लड़कियों को घर में छोटे बच्चों की देखभाल करनी पड़ती है, और वे स्कूल नहीं जा पातीं। उन्हें शिक्षा में मदद करने की दृष्टि से कुछ प्राथमिक स्कूल शिशुगृह और स्कूल-पूर्व संस्थान चलाते हैं। स्कूल केवल आवश्यक स्थान तथा कुछ साज-सामान जुटा देता है। शिशुगृहों तथा स्कूल-पूर्व संस्थाओं का संचालन बड़े लड़के और लड़कियां बारी-बारी से करते हैं, जिन्हें शिक्षक मार्ग-दर्शन देते रहते हैं, और वे अपनी पढ़ाई भी जारी रखते हैं।

इस किस्म के अनेक अन्य कार्यक्रम चल रहे हैं। उदाहरण के लिए, गुजरात का समाज कल्याण संगठन स्कूल-पूर्व शिक्षकों के भ्रमणशील दस्ते तैयार करता है जो गांव-गांव जाते हैं, या दो महीने तक कोई बालबाड़ी चलाते हैं, कुछ स्थानीय स्त्रियों को उस काम में दक्ष करते हैं, उन्हें काम सौंप देते हैं, फिर दूसरे गांवों की

ओर बढ़ जाते हैं। स्वयं स्त्रियों के ऐच्छिक तथा सहकारी प्रयत्नों के जरिये अनौपचारिक स्कूल-पूर्व शिक्षा के कार्यक्रम आगे बढ़ाने की अपार संभावनाएं हैं, हालांकि इन संभावनाओं की खोजबीन अभी तक नहीं हुई है। इस विषय पर सर्वांगीण प्रकाश डाले बगैर भी यह स्पष्ट होगा कि अनौपचारिक स्कूल-पूर्व शिक्षा के नये रूप विकसित करने की अपार संभावनाएं मौजूद हैं।

कार्यात्मक (फंक्शनल) प्राथमिक स्कूल

इस पर्चे का उद्देश्य इस बात की जांच करना है कि भारत में आज प्राथमिक स्कूल प्रणाली क्यों और कैसे अनुपयोगी हो गयी है और उसे पुनः अवामी तालीम के लिए किस प्रकार फिर से उपयोगी बनाया जा सकता है।

एक नमूने का जन्म

भारत में प्राथमिक स्कूल की रूपरेखा लगभग 150 वर्ष पहले एक विशेष स्थिति में तथा कुछ विशेष प्रयोजनों से बनायी गयी थी जो कि उस स्थिति में वैध थे। उदाहरण के लिए :

> यह माना जाता था (जो कि उस समय बिल्कुल सही था) कि समाज में ऐसे प्रौढ़ नागरिक उपलब्ध नहीं हैं जो कि स्कूल प्रणाली में प्रस्तावित नये पाठ्यक्रम (अर्थात् लिखना-पढ़ना, गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान इत्यादि) पढ़ा सकें तथा इसलिए यह कार्य ऐसे प्रशिक्षित पेशेवर अध्यापकों को ही सौंपना पड़ेगा जो पूर्णकालिक वेतनभोगी सरकारी नौकर हों।
>
> शिक्षक की ही भांति शिक्षार्थी से भी अपेक्षा थी कि वह एक पूर्णकालिक छात्र हो और प्रतिदिन स्कूल में पांच से छः घंटे पढ़ाई करे (गृह कार्य इसके अलावा हो) क्योंकि बहुत कुछ पढ़ना था, तथा वह अध्ययन जितने शीघ्र तथा सर्वांगीण रूप में हो सके उतना अच्छा रहेगा।
>
> चूंकि तब तक सार्वजनीन एवं अनिवार्य शिक्षा की कोई धारणा न थी, इसलिए माना जाता था कि मां-बाप अपने बच्चों के भावी कल्याण में स्कूल का महत्व समझेंगे तथा इस हेतु वे पूर्णकालिक आधार पर अपने बच्चे को स्कूल भेजने के लिए उसे प्रसन्नतापूर्वक भोजन, साधन तथा सुविधा प्रदान करेंगे। वस्तुतः यह धारणा भी प्रचलित थी कि घरेलू काम-काज में बच्चे को कोई समय नहीं देना पड़ेगा, तथा घर से उसे अन्य किस्मों की अपेक्षित मदद भी मिलेगी।
>
> यह मान्यता थी कि स्कूल का पाठ्यक्रम चूंकि सरकार ने यह सब सोच-समझकर तैयार किया है कि एक औसत अंग्रेज जैसा दीखने के लिए एक भारतीय को क्या-क्या जानना चाहिए, एवं उसके अपने परिवेश से भी उसका सार्थक संबंध होगा।

संक्षेप में, प्राथमिक स्कूल शहरी क्षेत्रों में, प्रथमतः सम्पन्न उच्च तथा मध्यम वर्गों के बच्चों के लिए शुरू हुआ, जो स्वयं भी शिक्षित थे तथा शिक्षा का मूल्य जानते थे, तथा जो अपने बच्चों को पूर्णकालिक आधार पर स्कूल भेजने, उन्हें खिलाने-पिलाने, कपड़े-लत्ते तथा अन्य साधन देने में समर्थ थे। सार्वजनीन शिक्षा या अनिवार्य शिक्षण की कोई कल्पना नहीं थी और शिक्षा का लक्ष्य भारतीय बालक को अपने परिवेश में शिक्षित करना उतना नहीं था जितना कि नस्ल, रक्त और रंग को छोड़ अन्य सभी बातों में उसे एक अंग्रेज बालक बना देना।

नमूना खटाई में

प्राथमिक स्कूल के मूल नमूने में बुनियादी तौर पर कोई चूक नहीं थी। उन परिस्थितियों में इसका समारंभ अन्य किसी रूप में हो नहीं सकता था। यह भी मानना चाहिए कि अनेक वर्षों तक यह नमूना काफी कारआमद रहा, और जब तक यह मूलतः शहरी संपन्न परिवारों की संस्था के रूप में सीमित रहा, उसमें कोई गड़बड़ी भी नहीं आयी। जब स्कूल ने ग्रामीण क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय भी जब तक वह ऐच्छिक आधार पर चला तथा अधिकतर संपन्न परिवारों के लिए सुलभ रहा, तब तक कोई समस्या नहीं आयी।

लेकिन जब अवामी तालीम या अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के विचार लगभग 50 वर्ष पहले जोर पकड़ने लगे और उससे 100 वर्ष पहले बिल्कुल भिन्न परिस्थितियों में निर्मित वही प्राथमिक स्कूल अवामी तालीम के लिए फैलाया जाने लगा और यह करते समय उसके ढांचे, संगठन या सारतत्व में कोई परिवर्तन भी नहीं किया गया, तभी मुसीबतें शुरू हुईं। आसानी से समझा जा सकता है कि इस कल्पनाहीन निर्णय ने बीसियों समस्याएं पैदा कर दीं।

> अनेक निरक्षर मां-बापों को, जिनकी कई पीढ़ियों में कोई पढ़ा-लिखा भी न होगा, स्कूल की कोई सार्थकता नहीं दीखी तथा उन्होंने अपने बच्चे वहां भेजने से इन्कार कर दिया। तब पहली बार हमें गैर-हाज़िरी की समस्या का अहसास हुआ, गोकि यह समस्या हमेशा से थी।
>
> कुछ अन्य लोगों ने स्कूल को एक अलग ही अर्थ में देखा—ऐसी जगह जहां बच्चों की प्रायः दिन भर देखभाल हो सकती है तथा परिवार पर कोई बोझ भी नहीं आता, अतः वे बहुत छोटे (6 या 8 वर्ष की आयु में) बच्चों को स्कूल भेजने लगे, क्योंकि अक्सर घर में वे सिर्फ शरारत करते थे। लेकिन ज्योंहि ये बच्चे घर या बाहर काम करने लायक होते, क्योंकि परिवार को आर्थिक जरूरत थी, वहीं मां-बाप बच्चों को स्कूल से निकाल

लेते। अस्तु, स्कूल एक तरह से बच्चों की परवरिश का मुफ्त अड्डा बन गया और इससे स्कूल छोड़नेवालों की समस्या पैदा हुई जो हर विकास-शील देश में विकराल होती जा रही है।

मां-बाप की तरह ही गरीब ग्रामीण बच्चों ने भी इस नमूने के प्रति ऐसी प्रतिक्रिया प्रकट की जो कि शहरी उच्च वर्ग के बच्चों की प्रतिक्रिया से बिल्कुल भिन्न थी, और जिनके लिए मूलतः यह नमूना बना था। किसान परिवारों से आये ग्रामीण छोटे बच्चों ने पाया कि स्कूल में उनकी सबसे कीमती थाती का मोल घट जाता है। दौड़ने, गाय दुहने, भैंस की सवारी करने, बिल्ली की भांति पेड़ पर चढ़ जाने, हर पेड़-पौधे का नाम जानने, उड़ते पक्षियों को पहचान लेने इत्यादि उनकी प्रतिभा का स्कूल में कोई मूल्य नहीं है, बल्कि ये खूबियां अवांछनीय हो चली हैं। इसके विपरीत वे जो काम नहीं कर सकते थे (और जिनमें कोई तुक नज़र नहीं आती थी) मसलन, शुद्ध उच्चारण के साथ सही भाषा बोलना, या धरती का आकार जानना इत्यादि स्कूल के प्रमुख लक्ष्य हैं, तथा मध्य एवं उच्च वर्ग के बच्चों के सामने वे इनमें पीछे ही रहते हैं। इस तरह अध्ययन में पिछड़ा-पन, अनुपस्थिति, प्रगति-अवरोध, तथा अन्य सुविदित खराबियां शुरू हुईं, जिनका एकमात्र मूल कारण यह था कि स्कूली पाठ्यक्रम गरीबतर वर्गों के बच्चों के लिए वास्तव में जड़ था जो न तो उन्हें रोचक लगता था, न प्रेरक।

संक्षेप में, सन् 1850 वाला स्कूल, जो कि शहरी उच्च वर्गों को शिक्षा देने के अपने ढांचे में बहुत ही उपयोगी या कार्यशील संस्था थी, सन् 1950 तक एक बहुत ही अनुपयोगी संस्था बन गयी क्योंकि उसके संगठन, ढांचे, या सारतत्व में परिवर्तन के बग़ैर ही उसे ग़रीबी की रेखा के नीचे जीनेवाले ग्रामीण ग़रीब अवाम के शिक्षण के लिए आरोपित कर दिया गया था, जबसे अविकसित देशों ने सार्वजनीन अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का लक्ष्य मंजूर किया है, तभी से उनके लिए सबसे बड़ा सिरदर्द यही अनुपयोगी प्राथमिक स्कूल हैं। हम सभी तथा यूनेस्को इन प्राथमिक स्कूलों की अनुपयोगिताएं दूर करने में लगे हुए हैं, तथा 'शोध-अनु-संधान' की महिमा से मंडित और 'विशेषज्ञों' एवं उच्च स्तरीय 'अन्तर्राष्ट्रीय परिसंवादों' से गौरवान्वित असंख्य विद्वत्तापूर्ण उपचार प्रस्तावित तथा प्रयुक्त हो चुके हैं, पर यदि वास्तविक रिपोर्ट पर विश्वास किया जाय तो मानना पड़ेगा कि इस दर्दनाक स्थिति पर उनका कोई असर नहीं हुआ है। कांटे का सवाल आज यही है : प्राथमिक स्कूल को हम फिर से उपयोगी कैसे बना सकते हैं ?

दो संसाधन : संभवतः इस सवाल के प्रश्न मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बट सकते हैं, जो कि निदान के स्वरूप तथा संबद्ध शिक्षाविद् की वैचारिक मान्यता

पर निर्भर हैं।

पहली क़िस्म के शिक्षाविद् मानते हैं कि यह नमूना ठीक है तथा इसे बदलना नहीं चाहिए, न ही बदलने की जरूरत है। अतएव स्कूल की समस्याओं पर उनके द्वारा प्रस्तावित समाधान कुछ इस प्रकार के हैं :

राज्यसत्ता ग़रीबी क्यों नहीं हटा देती। यदि हर मां-बाप संपन्न हो, और अपने बच्चों को पूर्णकालिक आधार पर स्कूल भेजने, खिलाने-पिलाने, पहनाने-उढ़ाने, साधन जुटाने में समर्थ हो (और भला इसकी प्राप्ति असंभव क्योंकर हो) तो यह नमूना बिना किसी परिवर्तन के बखूबी चल सकता है।

यदि ग़रीबी नहीं हटायी जा सकती, तो राज्य सत्ता प्रोत्साहन के कार्यक्रम क्यों नहीं चलाती। यदि मां-बाप बच्चे को साधन नहीं दे सकते, तो मुफ्त में शिक्षा सामग्री दो। यदि वह बच्चे को कपड़ा नहीं दे सकते, तो मुफ्त में पोशाक दो। यदि वह बच्चे को खिला-पिला नहीं सकते, स्कूल में लंच दो। यदि वह अपने बच्चे की आमदनी या मदद नहीं छोड़ सकते, तो परिवार को क्षतिपूर्ति भत्ता दो ताकि बच्चे को पढ़ने भेजने से हुआ आर्थिक घाटा पूरा हो जाय, इत्यादि।

ग़रीब ग्रामीण परिवारों के इन बच्चों के लिए विशेष अध्यापन कार्यक्रम क्यों न बनाये जायं, ताकि उच्च या मध्यम वर्गों के लिए निर्मित ये पाठ्य-क्रम इन बच्चों को भी पर्याप्त दिलचस्प लगें। हमारी व्यवस्था लोक-तांत्रिक व्यवस्था है और हमारा आग्रह है कि ग्रामीण बच्चे भी वही पाठ्यक्रम सीखें जो शहरी बच्चे सीखते हैं। यदि स्कूली घंटों में वे इसे पूरी तरह नहीं सीख पाते तो विशेष ट्यूशन दें।

शिक्षाविदों का दूसरा समूह, जो यह मानता है कि यह नमूना ही ग़लत है तथा यह कि हमें एक समतुल्य वैकल्पिक नमूना या नमूने तैयार करने चाहिए (जो कि एक-सा शिक्षा-परिणाम दें) पर ज़रूरी नहीं कि वे समरूप हों (इस अर्थ में कि हर परिस्थिति के लिए एक-से पाठ्यक्रम हों), जो हमारी आवश्यक-ताओं एवं परिस्थितियों के अनुकूल हों। इस समुदाय की सीधी-सी मान्यता यह है कि कोई भी नमूना जनता के लिए बनता है, न कि जनता नमूनों के लिए। इस बुनियादी मतभेद के कारण इन विचारकों के समाधान भी भिन्न हैं। उदाहरण के लिए :

उनका तर्क है कि ग़रीबी हटाना वांछनीय है तथा उत्साहपूर्वक उसका प्रयत्न होना चाहिए। पर यह दीर्घकालीन कार्य है और हम शिक्षा को सार्वजनीन बनाने के लिए ग़रीबी के उन्मूलन का इंतजार नहीं कर सकते। वस्तुतः सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षण स्वयं ग़रीबी उन्मूलन का

एक महत्वपूर्ण साधन हो सकता है। अतएव हमें एक ऐसा नमूना अवश्य ही बनाना चाहिए जो आज से लेकर तब तक चल सके जब ग़रीबी हट चुकेगी।

प्रोत्साहनों की चर्चा अक्सर ग़लत संदर्भ में रखी जाती है। स्कूलों में शिक्षा सामग्री मुफ्त में देना महत्वपूर्ण तथा आवश्यक है। सौभाग्य से यह बहुत खर्चीली भी नहीं है तथा तत्काल शुरू की जा सकती है। लेकिन कपड़े तथा स्कूल में भोजन का प्रावधान जरा अलग बात है। ये बहुत महंगे कार्य हैं तथा राज्य यह नहीं कर सकेगा। यदि वह कर भी ले, तो ये कार्यक्रम वस्तुत: शिक्षापरक नहीं बल्कि कल्याणकारी कार्यक्रम हैं तथा वास्तव में हर जरूरतमंद बच्चे को सुलभ होने चाहिए, वह स्कूल जाये या न जाये। यह भी तय नहीं है कि इन सुविधाओं से स्कूल में हाज़िरी बढ़ेगी ही, या कि अध्ययन बेहतर होगा ही (बच्चे स्कूल में प्राय: सिर्फ खाना खाने आते हैं)। हम यह न भूलें कि भारत की, तथा आमतौर पर विकासशील देशों की, मौजूदा आर्थिक परिस्थितियां ऐसी हैं कि यदि प्राथमिक सार्वजनीन शिक्षा व्यापक प्रोत्साहनों पर निर्भर कर दी गयी, तो कई वर्षों के लिए सार्वजनीकरण ही टल जाएगा।

प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का तात्पर्य यह नहीं है कि मध्य-वर्गीय मूल्यों और जीवनशैलियों को ही सार्वभौम बनाना है। वह विनाशक कार्य होगा। मसलन, श्री ई. डब्ल्यू. आर्यनायकम् कहा करते थे कि भारत के सुन्दर हस्तेशिल्प इसीलिए बचे हुए हैं और बहुमूल्य विदेशी मुद्रा भी कमाते हैं क्योंकि हम प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनीकरण करने में विफल रहे, अत: कम से कम कुछ बच्चे अपने घर में ये हस्तशिल्प सीखने और जारी रखने के लिए बच जाते हैं। हम यह देखें कि सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा मूलत: श्रम पर आधारित एक नैतिक मूल्य प्रणाली की रचना की दरकार रखती है, न कि सफेदपोश, विशिष्ट वर्गीय संस्कृति के प्रसार की।

यदि बच्चा घर में काम करने के कारण पूरे समय स्कूल नहीं जा सकता, तो उसे शिक्षा से सर्वथा वंचित न किया जाय, बल्कि उसके लिए अंशकालिक शिक्षण की उपयुक्त व्यवस्था की जाय। हर बच्चे को यदि संभव है तो, पूर्णकालिक आधार पर और ज़रूरी हो तो, अंशकालिक आधार पर पढ़ना ही चाहिए।

संक्षेप में, इस समूह के विचारकों का मुख्य तर्क यह है कि ग़रीब ग्रामीण समाजों की जरूरतों के अनुकूल एक नये नमूने की रचना से, थोड़ी अवधि में तथा विकासशील देशों की मौजूदा आर्थिक क्षमता के भीतर, एक अधिक कारगर ढंग

की प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनीकरण संभव है। अतएव वे पुरानी शिक्षा प्रणाली में तब्दीली चाहते हैं जो कि आज अनुपयोगी हो गयी है, तथा वे एक नहीं ऐसे अनेक वैकल्पिक नमूनों पर विचार करने को तैयार हैं जो अवाम की शिक्षा के लिए जरूरी हों तथा उसे संभव बनायें।

इन दो विरोधी मतों में एका लाने की सारी उम्मीद मैंने छोड़ दी है। इनमें से किसी को भी दलीलों से राजी नहीं किया जा सकता (बहरहाल, मेरा ख्याल है कि दलीलों से किसी को भी किसी भी चीज के लिए राजी नही किया जा सकता) और ये दोनों विचार-दल भारत में कम से कम चालीस बरस से चले आ रहे हैं—शुरुआत श्री आर. वी. परूलकर ने **मास एजुकेशन इन इण्डिया** (1934) नामक अपनी पुस्तक के प्रकाशन से की, जिसमें उक्त दूसरा मत प्रवर्तित है। जहां कुछ लोगों ने उन्हें महान शिक्षाविद् कहा तथा सम्मान दिया, वहीं कुछ ने उन्हें शैतान का अवतार मान लिया, तथा उन दिनों एक शिक्षा निदेशक ने यहां तक कहा कि श्री परूलकर तथा उनकी किताब, दोनों को अरब सागर में डुबो देना चाहिए। दोनों पक्ष अपने आपको खरा समझते हैं। पहला दल मानता है कि गरीब का मसीहा वही है, तथा गरीब के लिए सर्वोत्तम वस्तु लिये बगैर नहीं मानेगा, जबकि दूसरे दल की राय है कि इन मामलों में व्यावहारिक तथा सांसारिक रवैया अपनाना चाहिए, कि 'बेहतर' को 'अच्छे' का दुश्मन नहीं बनाया जा सकता, कि 'अशिक्षा' से 'किंचित शिक्षा' बेहतर है, तथा गरीब लोगों को तत्काल (नमूना बदलकर) जितनी भी शिक्षा मिल जाए उनके हित में ही है, तथा बेहतर शिक्षा के लिए वे लड़ते ही रहेंगे (जो कि अंतहीन प्रक्रिया है), इसलिए प्रतीत होता है कि अपनी-अपनी आस्था के आधार पर लोग इन दोनों में से किसी एक विचारधारा को चुनेंगे, और बुनियादी तौर पर अतार्किक यह एक ऐसा निर्णय है जिसे तर्कसंगत सिद्ध करने में लोगबाग जान लगा देते हैं।

प्रिय पाठक ! मुझे पता नहीं आप इनमें से किस दल के हामी हैं या होना चाहेंगे। मैं दूसरे मत का हूं (जिसका औचित्य समझा सकने में असमर्थ हूं, उसी तरह जैसे मैं अपने यौन, रंग या लंबाई का औचित्य साबित नहीं कर सकता)। मैं मानता हूं कि अनुपयोगी प्राथमिक स्कूल को उचित रूप से बदल कर उपयोगी स्कूल बनाया जा सकता है, बनाना चाहिए। यदि आप भी इसी मत के हों तो आगे के विवरण आपको रोचक लग सकते हैं। यदि आप पहले दल के साथ हों, तो कृपया इन पन्नों को उलटकर अगले लेख को पढ़े।

आवश्यक परिवर्तन

शीघ्र ही प्राथमिक शिक्षा को सार्वजनीन बनाने की खातिर, जबकि अधिकांश आबादी गरीब ही है तथा फलस्वरूप राज्यसत्ता के पास भी आवश्यक संसाधन

बहुत सीमित ही हैं, पारंपरिक नमूने में कौन-कौन से बड़े परिवर्तन आवश्यक हैं। इनका यहां संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

हम मान सकते हैं कि मौजूदा प्राथमिक स्कूल प्रणाली एकल-बिंदु प्रवेशवाले, क्रमागत एवं पूर्णकालिक संस्थागत शिक्षण की प्रणाली है, जिसे पूर्णकालिक एवं पेशेवर शिक्षक चलाते हैं, तथा यह गरीब परिवारों के अधिसंख्य बच्चों को कट्टर तथा जड़ प्रणाली प्रतीत होती है। इनमें से प्रत्येक के गुणावगुण की सविस्तार जांच जरूरी है।

एक बिंदु प्रवेश

आमतौर पर छः वर्ष (किसी किसी राज्य में पांच वर्ष) की आयु में बच्चे को पहली कक्षा में भर्ती कराया जाता है। यह सही है कि इससे कुछ कम या ज्यादा उम्र वाले बच्चों को भी पहली कक्षा में प्रवेश दे दिया जाता है। यह भी सही है कि जो बच्चे घर पर पढ़ चुके हों, उनकी परीक्षा लेकर उन्हें पहली कक्षा से ऊपर भी प्रवेश दिया जा सकता है। लेकिन पहली कक्षा में (या पहली कक्षा के अलावा) इस प्रकार कम या अधिक उम्र के बच्चों का प्रवेश नियम नहीं बल्कि अपवाद ही है, यह कहना सही होगा कि खासकर ग्रामीण क्षेत्र में बच्चे केवल पांच या छः वर्ष की उम्र में और केवल पहली कक्षा में ही औसतन प्रवेश पाते हैं।

इस प्रणाली के दो जाहिरा फायदे हैं : (1) पहली कक्षा में समवयस्क बच्चों का दल बनने लगता है जो साल-दर-साल उच्चतर कक्षाओं में पहुंचते हैं; (2) शिक्षक के लिए कक्षा में अध्यापन प्रायः आसान हो जाता है। लेकिन इसके नुकसान भी हैं। उदाहरण के लिए जो ग्रामीण बच्चा छः वर्ष के आसपास पहली कक्षा में न जा सके उसका क्या होता है। व्यवहारतः वह कभी भी स्कूल में नहीं जा सकेगा, तथा एक निरक्षर प्रौढ़ के रूप में जियेगा तथा मर जायेगा। ऐसे बच्चे से हम सिर्फ यह कह सकते हैं : "अफसोस है, बेटे, दुर्भाग्य से तुम चूक गये। पर तुम बड़े होकर जब शादी करोगे और तुम्हारे बच्चा होगा, तब उसको छः वर्ष की आयु में ले आना, हम उसे पहली कक्षा में खुशी-खुशी भर्ती कर लेंगे। पर यदि दुर्भाग्य से उसका बच्चा भी छः के आसपास पहली में न जा सका तो हम पोते-परपोते की प्रतीक्षा करेंगे। पूरी शिक्षा-प्रणाली में प्रवेश के लिए यह जो एक मात्र प्रवेश का रास्ता बना हुआ है, इससे पूरी प्रणाली बेकार हो जाती है।

यदि कोई बच्चा 11 या 14 वर्ष की आयु में पढ़ने की इच्छा प्रकट करे तो उसका क्या होगा। यह सही है कि ऐसे बच्चे को प्राथमिक शालाओं में भर्ती किया जा सकता है, किया भी जाता है। लेकिन भर्ती प्रायः पहली कक्षा में की जाती है। इस बड़े बच्चे को अन्य बहुत छोटे बच्चों के साथ बैठने, उनके साथ पाठ पढ़ने, और उसी रफ्तार से सीखने को कहा जाता है। बड़े बच्चों के लिए यह बात

अक्सर उबाऊ साबित होती है जो अक्सर ही स्कूल से भाग जाता है तथा 'ड्राप आउट' बन जाता है। ऐसे बच्चे के लिए दरअसल विशेष ढंग की कक्षाएं होनी चाहिए जिनमें उसे उसकी परिपक्वता के अनुकूल तकनीकों से पढ़ाया जाय। पर हमारी प्रणाली में इसके लिए कोई बंदोबस्त नहीं है।

ज़ाहिर है कि यदि हमारी शिक्षा प्रणाली में सिर्फ छः वर्ष के आसपास पहली में प्रवेश की बाध्यता न होकर, 9, 11 या 14 वर्ष की उम्र में भी प्रवेश की गुंजाइश रहे तो बहुत लाभ होगा। बच्चों के मन में उक्त किसी भी वर्ष में शिक्षा पाने की इच्छा पैदा हो सकती है, और हमारी प्रणाली इतनी लचीली रहनी चाहिए कि उनकी जरूरतों तथा क्षमताओं के अनुरूप विशेष ढंग से संगठित स्कूलों में विशेष ढंग की शिक्षा-तकनीक अपनायी जा सके। प्रवेश के ऐसे वैकल्पिक द्वार रहने पर शिक्षा प्रणाली में अनेक बच्चे आ सकेंगे जो आज बाहर रह जाते हैं तथा जिनसे केवल प्रौढ़ निरक्षरों की संख्या बढ़ती रहती है। यह भी स्पष्ट है कि अवाम में साक्षरता प्रसार के लिहाज़ से भी वर्तमान कुछ वर्ष में पहली प्रचलित प्रवेश की परिपाटी की अपेक्षा उक्त प्रणाली बेहतर साबित होगी।

क्रमागत स्वरूप

मौजूदा स्कूल इस अर्थ में क्रमागत प्रणाली बरतते हैं कि प्रत्येक बच्चे को हर साल एक कक्षा पास करनी पड़ती है। इसके बड़े अपवाद भी निस्संदेह हैं। अनेक बच्चे वर्षांत में पास नहीं हो पाते अतः उसी कक्षा में रह जाते हैं। इस तरह की प्रगति-अवरोध का रोग बहुत व्यापक है। इसके विपरीत कुछ बच्चे एक वर्ष में दो कक्षाएं पास कर सकते हैं और 'दुहरा' प्रमोशन ले सकते हैं, पर ऐसे मामले बहुत ही कम मिलेंगे। इसलिए कुल मिलाकर यह प्रणाली क्रमागत ढंग की है जहां बच्चे हर साल एक उच्चतर कक्षा में जाते हैं।

इस प्रणाली का प्राथमिक उद्देश्य पुनः समान आयु के बच्चों को एक साथ रखकर कक्षा के अन्दर शिक्षा कार्य को सरल करना है। निश्चय ही यह लक्ष्य पूरा होता है। पर इससे उन बच्चों की जरूरत पूरी नहीं होती जो बाद में पढ़ने आये हैं। मसलन, प्रयोगों से साबित हो चुका है कि 11 या 14 वर्ष के बच्चे एक से चार कक्षा तक की पढ़ाई लगभग दो वर्ष में पूरी कर सकते हैं। प्रायः 14 से 18 वर्ष के बच्चे कक्षा एक से आठ तक की पढ़ाई 2-3 वर्ष में पूरी करके प्राथमिक स्कूल का प्रमाणपत्र ससम्मान पा लेते हैं। इस तरह के कार्यक्रम प्रकटतः बहुत उपयोगी हैं और हमारे जैसे विकासशील देश की परिस्थितियों में उपयुक्त हैं, पर इनका कभी भी विकास नहीं किया गया। सिर्फ कुछ शुभाकांक्षी और प्रगतिशील शिक्षाविदों ने इस तरह के प्रयोग किये हैं।

पूर्णकालिक शिक्षा

मौजूदा स्कूल का एक अन्य पहलू यह है कि वे पूर्णकालिक संस्थागत शिक्षण देते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है, इससे संपन्न वर्गों के लिए कोई समस्या नहीं आती जिनके लिए यह प्रणाली मूलतः बनायी गयी थी। पर अधिकांश ग़रीब जनता के लिए यह अत्यंत दुष्कर है क्योंकि बच्चे घर या बाहर काम करके पारिवारिक आमदनी में मदद भी करने को बाध्य हैं। ज्योंही बच्चा 9 वर्ष के आस-पास होता है, उसे काम करना पड़ता है। वह घर के खेत या जानवरों की सेवा करता है, या फिर बाहर जाकर कुछ न कुछ कमाता है। लड़की अपनी अतिव्यस्त मां की मदद करती है, छोटे बच्चों की देखभाल करती है। ये बच्चे सारे वक्त स्कूल जा नहीं सकते, इसीलिए या तो वे स्कूल ही नहीं जाते या जल्दी ही स्कूल जाना छोड़ देते हैं। इन दिनों प्राथमिक शिक्षा में जो भयानक बर्बादी हो रही है और इसके दो-तिहाई या अधिक अपव्यय की जिम्मेदार है, उसके प्रमुख कारण ये आर्थिक बाध्यताएं ही हैं।

इस बर्बादी को कई तरह से खत्म किया जा सकता है। उदाहरण के लिए आम लोगों का जीवन-स्तर इतना उठा दिया जाय कि वे अपने बच्चों को पूर्ण समय के लिए स्कूल भेज सकें। समाज ऐसे मां-बाप को बच्चों से प्राप्त आमदनी के एवज़ में कुछ मुआवज़ा दे दे या फिर अल्पकालिक शिक्षा की व्यवस्था की जाय, जिसमें घर या बाहर काम करने को बाध्य बच्चे आयें तथा पढ़ें भी और कमायें भी। ज़ाहिर है कि पहला समाधान सराहनीय तो है पर दीर्घकालीन प्रयत्न मांगता है। दूसरा समाधान इस समय तथा अगले कई वर्षों तक सरकार के बूते के बाहर है। इसलिए एक मात्र व्यावहारिक विकल्प तीसरा है, अर्थात् कामगार बच्चों के लिए अंशकालिक शिक्षा की प्रणाली विकसित करना। आज हमारा ध्येय यह है कि या तो बच्चा पूर्णकालिक स्कूल में जाये, या फिर स्कूल से निकल जाये। (ग़रीब आदमी के बच्चे के प्रति) इस निर्मम व्यवस्था का हमारे जैसे देश में कोई स्थान नहीं हो सकता जहां अधिकांश लोग निहायत ग़रीब हैं। इसकी बजाय ऐसी व्यवस्था कायम की जानी चाहिए जिससे, संभव हो तो बच्चा पूर्णकालिक स्कूल में जाये, और मजबूरी हो तो, अंशकालिक स्कूल में तो जाये ही, इस तरह की प्रणाली में अंशकालिक शिक्षण भी इस तरह संगठित हो सकता है कि बच्चों की कामकाज की परिस्थितियों के अनुकूल हो तथा वे अपने पारिवारिक अनिवार्य कार्य में बाधा डाले बगैर शिक्षा ले सकें।

मात्र पेशेवर शिक्षकों का संगठन

मौजूदा स्कूलों का एक अन्य पहलू यह है कि उनमें केवल पूर्णकालिक पेशेवर शिक्षकों की सेवा ली जाती है। यह कार्य स्तर बनाये रखने के नाम पर होता है

और पूर्णकालिक शिक्षकों के प्रयोग पर किसी को एतराज भी नहीं हो सकता। पर केवल इसी ढर्रे पर पूर्ण निर्भरता से कई समस्याएं पैदा होती हैं। पहली तो यह कि शिक्षकों के वेतन में लगातार वृद्धि के कारण इस पद्धति का खर्च बढ़ता ही जाता है (जो प्रति शिक्षक इकाई बढ़ता है) तथा शिक्षक-शिष्य अनुपात घटता जाता है (जो प्रति शिष्य पर लागत कम करता जाता है)। यही नहीं, इसी जोर के कारण स्वयं शिक्षा की गुणवत्ता पर भी बुरा असर पड़ता है। उदाहरणार्थ, प्राथमिक स्कूलों में यदि स्थानीय प्रतिभा तथा शिक्षण संसाधनों—स्थानीय दर्जी या बढ़ई स्कूलों में हस्तशिल्प सिखा सकते हैं या कि स्थानीय अच्छे गायक संगीत सिखा सकते हैं – का उपयोग करें तो प्राथमिक स्कूलों का स्तर सुधरेगा। जरूरी नहीं कि पेशेवर लिहाज से ही ये लोग प्रशिक्षित हों, और समुचित दिशा-निर्देश देकर इनको अच्छा शिक्षक बनाया जा सकता है। पर ऐसे प्रयत्न कभी नहीं किये जाते। यदि शिक्षार्थियों को स्वयं शिक्षा देने में लगायें तो प्राथमिक स्कूलों पर खर्च किया जा सकता है। मसलन, भारत के परम्परागत देसी स्कूलों में मॉनीटर प्रणाली आम थी जिसमें योग्यता में वरिष्ठ छात्र को चुनकर उसे शिक्षक के आम निर्देशन में अपने से छोटे बच्चों को पढ़ाने में लगाया जाता था। इस प्रणाली या इसके विभिन्न रूपों के बहुत अच्छे परिणाम हो सकते हैं, खासकर वहां जहां स्कूल में एक ही शिक्षक हो या जहां आर्थिक कारणों से प्रत्येक कक्षा के लिए अलग शिक्षक रखना सम्भव न हो। कई इलाकों में शिक्षित नौजवानों की मदद स्थानीय स्कूलों के शिक्षक ले सकते हैं, जो बच्चों को पढ़ायें तथा बदले में थोड़ा बहुत भत्ता लें, इससे शिक्षण में भारी मदद मिलेगी जबकि लागत कम हो जायेगी। ये तरकीबें भी अकारथ पड़ी हैं। दुर्भाग्य यह है कि जब कभी गैर-पेशेवर शिक्षकों की मदद लेने का प्रस्ताव रखा जाता है, तब समूचा पेशेवर शिक्षक वर्ग भड़क उठता है तथा नये प्रयोगों को न शुरू होने देता है, न सफल।

स्कूल-पूर्व तथा प्राथमिक स्कूल का कठोर विभाजन न हो

हमारे प्राथमिक स्कूलों में न तो स्कूल-पूर्व संस्था है न शिशुगृह। गरीब परिवारों की लड़कियों को ज्यादातर अपने छोटे भाई-बहिनों की देखभाल ही करनी पड़ती है। एक तरफ तो हम लड़कियों को शिक्षित करना चाहते हैं और इस हेतु कई तरह के कार्यक्रम बनाते हैं। दूसरी ओर हम लड़कियों को उनके साथ छोटे बच्चे नहीं लाने देते तथा कहते हैं कि स्कूल आते समय उन्हें घर ही छोड़ आयें। चूंकि यह सम्भव ही नहीं है, अतः एकमात्र नतीजा यह है कि लड़कियां स्कूल नहीं जा पातीं और गरीब परिवारों की लड़कियों के लिए शिक्षा के प्रसार में निश्चित बाधा आती है। कई तरह के प्रयोग, खासतौर से स्वर्गीया श्रीमती ताराबाई मोदक द्वारा, किये गये हैं जिनमें स्कूल-पूर्व संस्थाएं या शिशुशालाएं

प्राथमिक स्कूलों के साथ-साथ चलायी गयीं, और खुद लड़कियों ने शिक्षकों की देखरेख में उनका संचालन किया। इस कार्यक्रम में अतिरिक्त व्यय नाममात्र का था पर गरीब परिवारों की लड़कियों को स्कूलों में दाखिल कराने में अपूर्व सफलता मिली। हमने जो नमूना तैयार किया है उसमें इस तरह के लचीले संगठन की गुंजाइश नहीं है, अतः जनसाधारण की लड़कियों की शिक्षा बहुत अधिक अवरुद्ध है।

विषय-वस्तु

आज प्राथमिक शिक्षा की विषय-वस्तु का निर्धारण केवल बच्चों को माध्यमिक स्कूल के लिए तैयार करने की दृष्टि से किया जाता है। शहरी और ग्रामीण, दोनों तरह के सभी प्राथमिक स्कूलों में एक-सा पाठ्यक्रम रहे इस पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है। इसका कुल नतीजा यह है कि परिवेश के साथ शिक्षा का तालमेल नहीं बैठ पाता। सभी प्राथमिक स्कूलों में एक-सी पाठ्य-पुस्तकें लगाना, और सातवीं या आठवीं कक्षा के अंत में बाह्य परीक्षण की पद्धति से भी विषय-वस्तु एकसार होती जाती है तथा स्थानीय परिवेश के अनुरूप फेरबदल नहीं हो पाते। पाठ्यक्रम निर्माण या मूल्यांकन में इस तरह अधिकार केंद्रित करने की प्रवृत्ति छोड़ना जरूरी है। स्कूलों को स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल पाठ्यक्रम बनाने की आजादी देने और शिक्षण का मूल्यांकन स्वयं शिक्षकों द्वारा ही किये जाने की पद्धति अपनाने की जरूरत है। इससे प्रत्येक प्राथमिक स्कूल ऐसा पाठ्यक्रम बना सकेगा जो बच्चों को प्रेरित करे कि मां-बाप की मदद आकृष्ट करे। तब स्कूल एक दिलचस्प स्थान हो जाएगा जिसकी सराहना मां-बाप करेंगे और बच्चे वहां जाना चाहेंगे; और मौजूदा पाठ्यक्रम से उत्पन्न मुख्य कठिनाइयां दूर हो जाएंगी।

अस्तु, स्पष्ट है कि वर्तमान प्राथमिक स्कूल प्रणाली सम्पन्न लोगों के हित में है जिनके बच्चे सफलतापूर्वक प्राथमिक अध्ययन कर लेते हैं (उनका अन्य उद्देश्य उच्चतर या माध्यमिक शिक्षा है जिसके लिए प्राथमिक स्कूल को मात्र एक सीढ़ी माना जाता है), यह शिक्षा अवाम के हितों को हानि पहुंचाती है जिनके अधिकांश बच्चे या तो फेल होते हैं या 'ड्राप आउट'। यदि प्राथमिक स्कूल को सार्वजनीन बनाना है तो परंपरागत स्कूल के नमूने का आमूल सुधार निम्न प्रकार से करना होगा ताकि अवाम के बच्चे शिक्षा पा सकें :

(1) केवल पहली कक्षा में प्रवेश की बाध्यता हटाकर ऐसी प्रणाली लागू हो कि 9, 11 या 14 वर्ष के बच्चे भी विभिन्न कक्षाओं में प्रवेश ले सकें, जो कि उनकी जरूरतों के मुताबिक विशेष रूप से संगठित की गयी हों।

(2) इस प्रणाली की क्रमागत शैली खत्म हो, बड़े बच्चे किसी भी समय

निर्धारित पाठ्यक्रम में शामिल तथा कमतर समय में उसे पूरा करने में समर्थ रहें।

(3) पूर्णकालिक संस्थागत शिक्षण पर एकमात्र जोर न दिया जाय, बल्कि अंशकालिक शिक्षण के व्यापक कार्यक्रम बनें; जिनमें कामगार बच्चों की सुविधा के अनुरूप शिक्षा दी जा सके।

(4) पूर्णकालिक पेशेवर शिक्षकों का ही उपयोग करना है, यह पद्धति खत्म हो। स्थानीय समाज में सुलभ सभी शिक्षण संसाधनों का उपयोग करने का प्रयत्न हो, प्राथमिक स्कूलों में शिक्षा के विकास में अंशकालिक स्थानीय शिक्षकों तथा वरिष्ठ छात्रों का भी पूरा उपयोग किया जाय।

(5) प्राथमिक स्कूलों तथा स्कूल-पूर्व संस्था में कड़ा भेद न रहे। जिन लड़कियों को छोटे बच्चों की देखभाल करनी ही पड़ती है, उन्हें बच्चों के साथ स्कूल आने दिया जाय। प्राथमिक स्कूलों में स्कूल-पूर्व संस्था या शिशुशाला बनाकर इसका इंतजाम किया जाय, जिनका संचालन बारी-बारी से वे लड़कियां शिक्षकों की देखरेख में करें। इससे बहुत मामूली अतिरिक्त खर्च से बहुत बड़ा काम हो सकेगा—गरीब परिवारों की लड़कियों में शिक्षा का प्रसार हो सकेगा।

(6) पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के बजाय हमें ऐसी लचीली और गतिशील पद्धति अपनानी चाहिए जिसमें पर्याप्त पहलकदमी, प्रयोग और नवीनता की गुंजायश स्कूलों तथा शिक्षकों के लिए रहे, और पाठ्यक्रम का स्थानीय परिवेश से तथा बच्चों की रुचि, आवश्यकता एवं क्षमताओं के अनुरूप तालमेल बैठाने का प्रयत्न किया जाए ताकि उनका अध्ययन, कर्म और अभिरुचियां विकसित हो सकें।

औपचारिक प्रणाली में सुधार के लिए औपचारिक-शिक्षा प्रणाली का संदेश मूलतः यही है, और मेरा आग्रह है कि परम्परागत प्राथमिक स्कूल में ये बड़े संरचनागत परिवर्तन जल्दी से जल्दी किये जायें। केवल इन्हीं से प्राथमिक स्कूल पुनः उपयोगी बन सकेंगे तथा हम शीघ्रातिशीघ्र एवं कम से कम खर्च में प्राथमिक शिक्षा को सर्वजन सुलभ बना सकेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय धारा

क्या हमें परम्परागत प्राथमिक शिक्षा में ये परिवर्तन केवल अविकसित देशों में करने चाहिए, क्योंकि वहां संसाधन सीमित हैं तथा उनमें बच्चों को सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा अभी तक नहीं दी जा सकी है, या कि दुनिया के विकसित देशों में भी इन परिवर्तनों का कोई महत्व है। दिलचस्प बात है कि विकसित देशों पर भी उक्त बात लागू होती है, और दुनिया भर के सभी देशों में परम्परागत स्कूल प्रणाली में अनौपचारिक-शिक्षा के तत्वों का समावेश सर्वस्वीकृत प्रयत्न है।

विश्व के विकसित देशों ने अपने बच्चों के लिए सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा

सुलभ करा दी है। कई देशों ने माध्यमिक शिक्षा भी सर्वजनसुलभ बना दी है। अब उन सभी के सामने लक्ष्य है शिक्षा को सभी की जीवन-संगिनी बनाना। इस हेतु वे पाते हैं कि एकमात्र औपचारिक-शिक्षा पर जोर देने वाली मौजूदा प्रणाली के स्थान पर ऐसी प्रणाली लानी होगी जिसमें औपचारिक और अनौपचारिक, दोनों शिक्षा रहें। जैसा कि **लर्निंग टु बी** (जीवन के लिए शिक्षा) नाम से अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा है :

> समयबद्ध (स्कूली चरण में) और स्थानाबद्ध (स्कूली भवनों में सीमित) शिक्षा की धारणा का त्याग करना होगा। स्कूली शिक्षा को लक्ष्य न मानकर सम्पूर्ण शिक्षापरक गतिविधि का बुनियादी अंग मात्र माना जाए, जिसमें संस्थागत एवं स्कूल के बाहर की शिक्षा भी समाविष्ट है। शिक्षापरक गति-विधि का एक भाग अनौपचारिक किया जाना चाहिए, तथा लचीले, विविध नमूनों का समावेश होना चाहिए। (पृ. 233)

इसलिए विकासशील देशों में प्राथमिक शिक्षा न्यूनतम समय में तथा न्यूनतम खर्चे में सार्वजनीन बनाने के लिए परम्परागत स्कूल में सुधार के जो सुझाव यहां दिये जा रहे हैं, वे ठीक वही सुझाव हैं जिन पर विकसित देशों में शिक्षा को सभी के लिए जीवन-संगिनी बनाने के उद्देश्य से अमल करने की कोशिश हो रही है। अतएव इन परिवर्तनों को विश्व में शिक्षा की भावी धारा कहा जा सकता है, ऐसी धारा जो विकसित एवं विकासशील देशों को अभूतपूर्व ढंग से परस्पर निकट लायेगी। अतएव हमें शिक्षा के पुनर्निर्माण का प्रयत्न करते समय यही दिशा अपनानी चाहिए।

स्कूल के बाहर युवजनों की अनौपचारिक-शिक्षा

आवश्यकता और महत्व

शिक्षा में विनियोग दीर्घकालीन होता ही है तथा एक पीढ़ी के बाद उसके नतीजे आना शुरू होते हैं, बल्कि कभी-कभी और भी लंबी अवधि के बाद। लेकिन विकासशील देशों को शीघ्र ही कुछ करना है। अतः शिक्षा कार्यक्रमों में महत्व-पूर्ण समस्या यह है कि जल्दी तथा प्रायः तत्काल नतीजे हासिल हों। यदि ऐसे कार्यक्रम बनाये तथा क्रियान्वित किये जा सकें, तो जिन विकासशील देशों को अपनी लागत का फल बेहतर तथा शीघ्र मिलेगा उन्हें सबसे अधिक लाभ होगा।

इस तरह के कई कार्यक्रम सुझाये जा सकते हैं : प्रौढ़ साक्षरता, औद्योगिक मजदूरों की कार्यकालीन प्रशिक्षा, कृषि विस्तार इत्यादि। लेकिन इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं दूरगामी कार्यक्रम संभवतः 15-25 आयु के नौजवानों के लिए शिक्षा का फ़ौरी कार्यक्रम ही होगा। इस समूह का आकार विशाल है—कुल आबादी का लगभग 25 प्रतिशत। इसके सदस्य प्रायः जागरूक, जिज्ञासु, संवेदन-शील, और देश एवं जनता की सेवा में भावात्मक प्रतिबद्धता के लिए प्रेरित होने में समर्थ रहते हैं। अतएव शिक्षार्थी के रूप में यह एक समृद्ध एवं संभावनाशील समूह है जिसे बच्चों या प्रौढ़ों की अपेक्षा आसानी से मार्गदर्शन दिया जा सकता है। सबसे अहम बात यह है कि इनकी शिक्षा के कार्यक्रम में लागत कम लगती है (क्योंकि यह शिक्षा अनिवार्यतः अंशकालिक होगी) तथा इसके नतीजे फौरन कारगर रूप में मिलते हैं क्योंकि ये युवजन पांच-दस वर्ष में समाज के सक्रिय एवं प्रभावशाली सदस्य बन जायेंगे।

यदि समाज के पास इतना धन हो कि प्रत्येक व्यक्ति को आठ वर्ष की अनि-वार्य शिक्षा दी जा सके, तो किस आयु में इस धन का विनियोजन किया जाना चाहिए ? शिक्षा-नियोजन में यह एक बहुत ही दिलचस्प समस्या है। कुछ की राय है 3-10 वर्ष का आयु-समूह सर्वोत्तम होगा, तथा मनोवैज्ञानिक और शारीरिक कारणों से वे इसकी पुरजोर हिमायत भी करते हैं। अन्य लोगों की राय 6-14 वर्ष के समूह के पक्ष में है। हमारे संविधान में भी इस आयु-समूह के लिए मुफ्त एवं

अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान है। पर अन्य लोग ऐसे भी हैं जो 14-21 वर्ष की आयु तसदीक करते हैं, खासकर विकासशील देशों के लिए। दलील यह है कि इस आयु के शिक्षण में लागत कम लगेगी और नतीजे जल्दी प्राप्त होंगे। इन विभिन्न विचारों में सुलह कराने की न तो जरूरत है, न यह संभव है। हमें एक राष्ट्र के नाते अपना फैसला करना होगा तथा हमने 6-14 वर्ष के समूह पर विशेष ध्यान देने का निर्णय किया है। इस निर्णय को बदलने की जरूरत नहीं है। पर इसके साथ 15-25 वर्ष की आयु के लिए फौरी कार्यक्रम भी चलाना चाहिए, जिसमें 14-21 का समूह भी आ जाता है। अतः इसकी पुरज़ोर सिफ़ारिश की जानी चाहिए कि आठवें दशक में इस समूह के शिक्षा के व्यापक कार्यक्रम बनें। अगले तीन वर्ष काफी बड़े पैमाने पर अग्रगामी प्रायोजनाओं के निर्माण तथा आवश्यक विशेषज्ञता, व्यक्तियों के प्रशिक्षण एवं सामग्री के उत्पादन में लगाये जाने चाहिए। तदनंतर पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम को बड़ा स्थान दिया जाना चाहिए।

कार्यक्रम की विषयवस्तु तथा स्वरूप

15-25 आयु वर्ग के कुछेक युवकों को इस समय विभिन्न स्तरों पर पूर्ण-कालिक शिक्षा मिल रही है—कुछ को प्राथमिक स्तर पर, अधिकांश को माध्यमिक स्तर पर तथा कुछेक को विश्वविद्यालय में। लेकिन सभी संस्थाओं को मिलाने पर भी इस आयु-समूह की कुल आबादी के 10 प्रतिशत से अधिक लोग शिक्षा संस्थाओं में नहीं है। स्कूल-कालेज में पढ़ रहे इस छोटे से समूह की शिक्षा पर हम कोई प्रस्ताव देने नहीं जा रहे हैं। शिक्षा सुधार के सामान्य कार्यक्रमों से उनकी आवश्यकता पूरी होनी चाहिए। लेकिन इस पर्चे में हमारी चिंता का मुख्य विषय है स्कूल के बाहर के इसी आयु-समूह के 90 प्रतिशत बच्चों की शिक्षा का कार्यक्रम बनाना, क्योंकि इन्हें इस समय कोई भी शिक्षा नहीं मिल रही है। अतः कुल आबादी के इन 90 प्रतिशत लोगों के लिए युद्धस्तर पर शिक्षा कार्यक्रम तैयार करना है।

इस कार्यक्रम की विषयवस्तु और स्वरूप प्रकटतः इन नौजवानों की शिक्षा-उपलब्धि और जरूरतों पर निर्भर होगा। कुछेक ने शायद माध्यमिक शिक्षा पूरी कर ली होगी और कुछ लोग शायद स्नातक भी हों। उनसे अधिक लोगों को प्राथमिक शिक्षा मिल चुकी होगी और वे अन्य शिक्षात्मक उपलब्धियों के अलावा साक्षर भी माने जा सकते हैं। पर अगले दशक में आधे से अधिक लोग ऐसे होंगे जो या तो स्कूल ही नहीं गये, या स्कूल इतनी जल्दी छोड़ गये कि कामचलाऊ साक्षरता भी न सीख पाये होंगे। अतः इस समूह के लिए विभिन्न स्तरों पर कार्यक्रम बनाना होगा— अधिसंख्य व्यक्तियों के लिए प्राथमिक स्तर पर, जिसमें उपयोगी या कामचलाऊ साक्षरता पर जोर रहे। लेकिन अपेक्षाकृत छोटे किन्तु

महत्वपूर्ण समुदाय के लिए प्रस्तावित शिक्षा कम-से-कम माध्यमिक स्तर की होगी। इनमें से बहुत थोड़े लोगों को शायद विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा की दरकार भी हो।

किन्तु यह सोचना गलत होगा कि अनवरत सामान्य शिक्षा मात्र से ये व्यक्ति आकृष्ट होंगे तथा उनकी जरूरतें पूरी हो जायेंगी। सामान्य शिक्षा नये कार्यक्रम का एक अहम अंग जरूर होगी। पर अकेले उसमें वह जीवंतता नहीं होगी। याद रखें कि स्कूल के बाहर ये अधिकांश नौजवान श्रमजीवी हैं, जो किसी-न-किसी माध्यम से कमाई करके अपना तथा परिवार का गुजारा चला रहे हैं। तकनीकी तौर पर वे गैर-कामगार हैं। परंतु परिवार के कारोबार का सारा भार वे बटा रहे हैं। अतः उनकी रुचि का केंद्र पेशागत है और उन्हें सबसे अधिक आकृष्ट वही चीज़ करेगी जो उनके पेशेगत कौशल में वृद्धि करे ताकि वे कुछ अधिक कमा सकें या ऐसी नयी पेशेगत तकनीकें सीखें, जिससे उनका आर्थिक ओहदा बढ़े। अतः सशक्त व्यावसायिक तत्व इन सभी शिक्षा कार्यक्रमों में समाविष्ट करना होगा।

ऐसे सशक्त व्यावसायिक या पेशेगत आधार के इर्द-गिर्द अन्य कई तत्व एकत्र किये जा सकते हैं, जो अकेले-अकेले शायद युवजनों को शिक्षार्थ आकृष्ट न कर पायें। उपर्युक्त कथनानुसार पहला ऐसा तत्व है सामान्य शिक्षा। दूसरा महत्वपूर्ण अंग है पारिवारिक जीवन की शिक्षा, जिसमें परिवार नियोजन शामिल है। इस आयु के अधिकांश लोग विवाहित होंगे। खासकर गांवों में, तथा परिवार-जीवन का कार्यक्रम उन्हें रोचक तथा लाभदायक लगेगा। यह भी स्पष्ट है कि प्रजनन आयु में प्रवेश करने वाले इन युवजनों को परिवार नियोजन की शिक्षा दी जानी चाहिए। दुर्भाग्य से परिवार नियोजन का कार्यकर्ता उन तक नहीं पहुंच पाता या प्रभावशाली नहीं हो पाता क्योंकि उनके बीच कोई अनवरत संप्रेषण माध्यम नहीं है। अतः यदि स्कूलेतर युवजनों की सर्वांगीण शिक्षा के कार्यक्रम के अंतर्गत परिवार नियोजन सिखाया जाय तो उसके सफल होने की सर्वाधिक संभावना है।

दो अन्य तत्व भी लाभदायक ढंग से जोड़े जा सकते हैं। पहला तत्व है मनोरंजनात्मक और सांस्कृतिक अभिरुचि। दूसरा है राष्ट्र-निर्माण या समाजसेवा के सार्थक कार्यक्रमों में उनकी रज़ामंदी या उत्सुकता।

अस्तु, प्रस्ताव यह है कि इन युवजनों को विविध शैक्षिक तत्वों के सम्मिश्रण की जरूरत है। व्यावसायिक प्रशिक्षण के मूलाधार के इर्द-गिर्द अन्य कई तत्वों को जोड़कर तैयार किया गया सम्मिश्रण—जिसमें सामान्य शिक्षा (आवश्यकतानुसार, उपयोगी साक्षरता भी इसमें शामिल रहे), परिवार-जीवन की शिक्षा (परिवार नियोजन भी शामिल रहे), मनोरंजनात्मक एवं सांस्कृतिक अभिरुचियों का विकास और राष्ट्र-निर्माण या समाज सेवा के कार्यक्रमों में हिस्सेदारी, इत्यादि

शामिल हों। अलग-अलग समूह के लिए यह मिश्रण अलग-अलग होगा, बल्कि एक समूह में भी समय-समय पर बदलता रहेगा। इस कार्यक्रम की सफलता प्रायः इस पर निर्भर होगी कि किसी समूह की किसी खास समय की जरूरतों को मद्देनज़र रखकर, आयोजक किस तरह से इस कार्यक्रम की कल्पना करते हैं तथा किस रूप में यह मिश्रण प्रदान करते हैं।

यह भी ध्यान रहे कि अधिकांश व्यक्ति चूंकि किसी न किसी रूप में रोज़गार में लगे होंगे, अतः यह कार्यक्रम अंशकालिक शिक्षा का होगा। जो बेकार हैं तथा पूर्णकालिक तौर पर शामिल हो सकते हैं उनके सामने दो विकल्प होंगे : अपनी रुचि के किसी भी वर्तमान शिक्षा संस्थान में पूर्ण समय के लिए दाखिल हो जायें, या इस कार्यक्रम में अंशकालिक आधार पर हिस्सा लें, पर अनेक कारणों से यह कार्यक्रम केवल अंशकालीन ही होगा।

विशेष इलाकों में नौजवानों की अभिरुचियां क्या हैं, तथा उन्हें कौन सा समय शिक्षण के लिए सुविधाजनक रहेगा यह पता लगाने के लिए सावधानीपूर्वक सर्वेक्षण करने होंगे। कार्यक्रम की सफलता जितनी इस बात पर निर्भर रहेगी कि शिक्षण तथा अवकाश के घंटों में कितनी समरूपता है, उतनी ही इस पर भी कि शिक्षा की विषय-वस्तु और उनकी जरूरतें तथा अभिरुचियां कितना मेल खाती हैं।

अस्तु, अंशकालिक कक्षा-शिक्षण सबसे महत्वपूर्ण तकनीक रहेगी। पर यह एकमात्र तकनीक नहीं हो सकती। जब कभी जरूरत पड़े, इसके साथ पत्राचार-शिक्षण, रेडियो एवं फिल्म जैसे संचार साधनों के जरिये शिक्षण तथा विशेष रूप से आयोजित शिविरों में अंशकालिक, पूर्णकालिक सघन प्रशिक्षण कार्यक्रम भी चलाने होंगे। प्रत्येक समूह की जरूरतों के अनुसार समय-समय पर इन सभी तकनीकों का उचित नियंत्रण करना होगा।

माध्यम (एजेंसी)

इस कार्यक्रम को किन माध्यमों से विकसित किया जा सकता है ? इस कार्यक्रम के लिए बिल्कुल नया माध्यम गढ़ना घातक भूल होगी। ऐसा करने में बेहद खर्च तथा समय लग जाएगा। इसलिए हमारा प्रयत्न केवल कार्यक्रम के लिए नया संगठन बनाने का होना चाहिए, तथा उस हेतु समस्त मौजूदा संस्थाओं के सारे मानवीय तथा भौतिक साधनों का, और समाज में सुलभ समस्त शैक्षिक संसाधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए। बड़े पैमाने पर और समय गंवाये बगैर समस्या से निबटने का एकमात्र व्यावहारिक तरीका केवल यही है।

इस कार्यक्रम के लिए हमारे प्राथमिक और माध्यमिक उच्चतर स्कूलों तथा कालेज विश्वविद्यालय इत्यादि का भरपूर उपयोग होना चाहिए। इस समय हमारे पास लगभग 550,000 प्राथमिक स्कूल, लगभग 120,000 मिडिल स्कूल,

लगभग 50,000 माध्यमिक स्कूल, लगभग 4,000 कालेज, लगभग 100 विश्व-विद्यालय या उनके समकक्ष संस्थान, और कृषि तथा उद्योग की कुछ हजार पेशेगत संस्थाएं हैं। उनमें लगभग 25 लाख शिक्षक, हजारों भवन और करोड़ों-अरबों रुपयों का साज-सामान है। इस विराट संसाधन का उपयोग अंशकालिक आधार पर किया जाना चाहिए। इस कार्यक्रम में एक विशेष लाभ यह भी है कि पढ़ाई पूरी किये बगैर स्कूल छोड़ देने वाले अधिकांश युवक कभी-न-कभी इन संस्थाओं में पढ़ चुके हैं। अतः हमारा सुझाव है कि इन्हीं केन्द्रों के इर्द-गिर्द नये कार्यक्रम की रचना की जाए और इनके शिक्षक, साधन तथा भवनों का पूर्ण उपयोग किया जाए। इससे उनके सामान्य कार्यकलाप और इस नये अंशकालिक कार्यक्रम में कोई टकराव नहीं आएगा। यदि शिक्षकों को उनके अतिरिक्त कार्य के लिए कुछ अतिरिक्त भुगतान भी किया जाए तो इस कार्यक्रम को बहुत थोड़े धन से तथा शीघ्रतम समय में शुरू किया जा सकता है।

इन संस्थाओं की भूमिका इस कार्यक्रम में असंदिग्ध रूप से महत्वपूर्ण रहेगी, पर अन्य संस्थाओं का भी पूरा सहयोग लेना आवश्यक होगा। इस कार्यक्रम का मूलाधार व्यवसाय-शिक्षा होगा जिसके लिए वर्तमान शिक्षा प्रणाली पर्याप्त सन्नद्ध नहीं है। पेशेगत शिक्षण की संस्थाओं के संसाधनों का पूरा-पूरा उपयोग तो किया ही जाए, अन्य संगठनों की भी मदद ली जाए। मसलन, कृषि विश्व-विद्यालय, ग्राम-सेवक प्रशिक्षण केन्द्र, कृषि-विभाग के बीज-खाद केन्द्र इत्यादि खेती की शिक्षा में बहुमूल्य संसाधन दे सकते हैं। आई. टी. आई. संस्थाएं उद्योग में शिक्षा का अच्छा आधार दे सकती हैं। स्वास्थ्य विभाग के कर्मचारी, चिकित्सा शिक्षा की संस्थाएं और अस्पताल तथा औषधालय, परिवार जीवन की शिक्षा, परिवार नियोजन इत्यादि के विकास में सहायक हो सकते हैं। अन्य अनेक सरकारी विभाग भी महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं तथा उन सभी की मदद लेना परमावश्यक होगा।

यही नहीं, समाज के जो विशाल शैक्षिक संसाधन हैं तथा जो अनुपयुक्त रह जाते हैं, उनका भी उपयोग करना होगा। मसलन, अवकाश प्राप्त शिक्षक बहुत सहायक साबित होंगे। परिवार नियोजन कार्यक्रमों में प्राइवेट डाक्टरों की मदद लेनी पड़ सकती है। निजी उद्योग से भी मदद तथा शिरकत मांगी जा सकती है। प्राइवेट शिल्पियों और अन्य कुशल मजदूरों की सेवा भी अंशकालिक आधार पर मांगी जा सकती है। समुदाय में रहने वाले खिलाड़ियों और कलाकारों की मदद से मनोरंजनात्मक तथा सांस्कृतिक जरूरतें पूरी की जा सकती हैं, इत्यादि।

हमारा दावा है कि जहां कहीं इस कार्यक्रम को विकसित करना हो, हम न केवल नौजवानों की जरूरतों का पता लगायेंगे बल्कि उन अनेक संस्थानों तथा व्यक्तियों का भी, जिनके कौशल तथा सेवाओं से ये जरूरतें पूरी की जा सकती

हैं। अतः जरूरत इस बात की है कि नौजवानों की शैक्षिक आवश्यकताओं तथा रुचियों का सर्वेक्षण हो तथा दूसरी ओर उस समुदाय में उपलब्ध ऐसी संस्थाओं एवं मानवीय संसाधनों का भी, जिनसे वे जरूरतें पूरी हो सकें। संगठनकर्ता का श्रेय इसी में है कि वह दोनों को सार्थक ढंग से एकत्र कर दे। अतः समस्या मूलतः संसाधनों की कमी की नहीं है, अपितु आवश्यक दृष्टि तथा संगठन के अभाव की है। हमें इन्हीं पर जोर देना है।

जिन देशों में ऐसे सक्रिय कार्यक्रम विकसित हुए हैं, वहां देखा गया है कि नौजवान खुद अच्छे शिक्षक साबित होते हैं अतः आरम्भ से ही हमारी यह नीति रहे कि स्कूल के बाहर के नौजवानों में ऐसे नेतृत्वकारी युवा छांटें जो इस शिक्षा कार्यक्रम की अधिकाधिक जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते जायें। यही कारण है कि इस कार्यक्रम में अनिवार्य राष्ट्र सेवा का भी विशेष अवसर दिया जाता है। यदि सरकार विश्वविद्यालयी छात्रों के लिए राष्ट्रीय सेवा अनिवार्य करना चाहती है, तो इस कार्यक्रम से आवश्यक कर्मक्षेत्रीय अनुभव मिल सकता है, क्योंकि केवल इसी के आधार पर विश्वविद्यालयी छात्रों के लिए राष्ट्रसेवा का सार्थक कार्यक्रम बन सकता है।

संगठन

इस कार्यक्रम के लिए किस तरह का संगठन जरूरी होगा और कार्यक्रम किस तरह विकसित होगा। हमें इन दो महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देना होगा।

सबसे पहले हम प्राथमिक स्तर पर आवश्यक संगठन की परिकल्पना करें। इसके लिए हम जिलों को इकाई मान लें। प्रत्येक जिले के लिए एक विशेष अधिकारी पर इस कार्यक्रम का दायित्व रहेगा और उसे आवश्यक सहयोगी कर्मचारी सुलभ होंगे। इस अधिकारी के दायित्व मुख्यतः संगठनात्मक रहेंगे और वह शिक्षा विभाग का हो सकता है। लेकिन यदि कार्यक्रम को सफल बनाना है तो उसे सभी सरकारी विभागों के संसाधनों का समन्वय करना पड़ेगा।

अधिकारी नियुक्त होते ही तय करना होगा कि कार्यक्रम के केंद्र कहां-कहां हों। जैसा पहले कहा गया, केंद्र कोई शिक्षा संस्था ही होगी—कालेज या माध्यमिक स्कूल या प्राथमिक या मिडिल स्कूल। अन्ततः इन सभी संस्थाओं को इस कार्यक्रम में संलग्न कराना होगा। पर शुरुआत के लिए जिला अधिकारी एक फौरी सर्वेक्षण करेगा और कुछेक संस्थाओं को चुन लेगा जहां आवश्यक नेतृत्व और अभिरुचि उपलब्ध हो। वह एक जिले में 50 से 100 केंद्र तक शुरू कर सकता है। ये जिले के सभी भागों में बिखरे हो सकते हैं या फिर कुछ चुनिंदा विकास प्रखंडों में केंद्रित।

ज्यों ही केंद्रों का चयन हो, अगला कदम स्थानीय आवश्यकताओं तथा संसाधनों का सर्वेक्षण कराना होगा। आवश्यकता के सर्वेक्षण के तहत 15-25 आयु के प्रत्येक स्थानीय स्कूल-बाह्य युवजन से मिलना, उससे पूछना कि क्या वह शिक्षा जारी रखना चाहेगा, यदि हां तो उसकी मुख्य अभिरुचियां क्या हैं और कौन सा समय सुविधाजनक रहेगा, इत्यादि का पता लगाना होगा। संसाधन-सर्वेक्षण के अन्तर्गत उस इलाके के सभी संस्थागत एवं मानवीय संसाधनों का आकलन करना होगा जिन्हें इस तरह के कार्यक्रम में अंशकालिक आधार पर उपयोग में लाया जा सके। यदि समुचित ढंग से सर्वेक्षण हो (तथा सर्वेक्षक को 10-15 दिन में एक उपयुक्त वर्कशॉप में प्रशिक्षण दिया जा सकता है) तो उस इलाके के लिए कार्यक्रम का खाका तैयार हो सकेगा। इसके अन्तर्गत, शिक्षा के इच्छुक युवजन, उनके लिए आवश्यक प्रशिक्षण की किस्म, और स्थानीय माध्यमों का आकलन शामिल हैं जो इसके लिए सक्रिय किये जा सकें। तभी वित्तीय तखमीना भी लगाया जा सकेगा। यह तखमीना स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न होगा तथा प्रस्तावित कार्यक्रम के स्वरूप पर भी निर्भर होगा।

कार्यक्रम बनाते समय मूल तत्व होंगे, लचीलापन और व्यक्ति की आवश्यकता एवं उसे प्रदत्त सुविधाओं के बीच तालमेल। सिद्धांततः प्रत्येक व्यक्ति की जरूरतें यथासंभव अलग-अलग पूरी करना है, पर व्यावहारिक नक्शा यह होगा कि कुछेक 'समूह जरूरतें' अंकित की जायेंगी और उनकी पूर्ति समूहों में होगी।

कुल प्रयत्न यह होना चाहिए कि प्रत्येक स्कूल-बाह्य युवक को प्रतिदिन एक-दो घंटे की शिक्षा हफ्ते में पांच दिन मिले, जो कि एक साल में पूर्णकालिक शिक्षा के तीन माह के बराबर होगी। इसके अलावा, कम से कम दो हफ्ते वह पूर्णकालिक प्रशिक्षण शिविर में बिताये। शुरू में प्रत्येक ऐसे युवक को कम से कम एक वर्ष तक ऐसी शिक्षा दी जाए। इस प्रकार दीक्षित कई युवजन आगे स्वेच्छा से शिक्षा जारी रखना चाहेंगे और उन्हें इस हेतु पूर्ण प्रोत्साहन दिया जाय। अन्ततः यह कार्यक्रम इस आयु-समूह के प्रत्येक व्यक्ति को लगभग तीन वर्ष शिक्षा देने में कामयाब होना चाहिए।

एक वर्ष के अंशकालिक शिक्षण में भी पेशेगत हुनर आगे को बढ़ाने, आवश्यक होने पर कामचलाऊ साक्षरता देने, नागरिकत्व की सामान्य शिक्षा देने, परिवार-जीवन की शिक्षा और कुछ मनोरंजन तथा सांस्कृतिक गतिविधियां चलाने की पूरी सम्भावना विद्यमान है। लेकिन यदि नौजवान तीन वर्ष तक इस कार्यक्रम में रह सके तो कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धि भी सम्भव है।

लड़कों के लिए यह कार्यक्रम चलाना अधिक आसान है, तथा उनके लिए आवश्यक संसाधन, खासकर कर्मचारी, अधिक सुलभ हैं। इसलिए शुरू में यह कार्यक्रम मुख्यतः लड़कों के लिए होंगे। पर लड़कियों की शिक्षा का महत्व भी कम नहीं समझा जाय, व शुरू से ही उनकी जरूरतों पर विशेष ध्यान दिया जाए।

शुरू में 50 केंद्रों से शुरू करके 3-4 वर्ष में प्रत्येक जिले में लगभग 200 केंद्र चलाना संभव होना चाहिए, और एक दशक में पूरे जिले में सघन कार्यक्रम चल सकता है।

हमें कम-से-कम प्रत्येक राज्य में एक जिले तथा प्रत्येक केंद्र शासित क्षेत्र में एक विकास प्रखंड में यह कार्य शुरू करना चाहिए। इसका विस्तार प्रकट नीतियों पर होता जाएगा। हर साल कुछ और नये जिलों या विकास प्रखंडों में यह कार्य शुरू हो सकता है। चुने हुए जिले में कुछ और केंद्र जुड़ सकते हैं, और जिन केंद्रों पर कार्य जारी है वहां भर्ती बढ़ाने तथा कार्यक्रमों को विविध एवं गहन करने के प्रयत्न हो सकते हैं। लक्ष्य यह रहे कि चौथी योजना के अन्त तक कुल स्कूल-बाह्य युवजनों में से 10 प्रतिशत—9 करोड़—को इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ले आया जाए। यदि धन की कमी हो तो लक्ष्य 50 प्रतिशत कम किया जा सकता है। पांचवीं योजना के अन्त में इस आयु समूह के 50 या 60 व्यक्तियों को कम-से-कम एक साल की शिक्षा का लक्ष्य रखना चाहिए। ऐच्छिक आधार पर यह कार्यक्रम अवधि जहां तक व्यावहारिक हो, लम्बी खींची जा सकती है।

जिला स्तर पर सभी सहयोगी एवं स्त्रियों और विभागों के प्रतिनिधियों की एक सलाहकार समिति बनाना वांछनीय होगा।

यदि जिला स्तर पर इस बुनियादी ढांचे को ठीक ढंग से बनाया जा सके, तो अन्य स्तरों पर समन्वय में अधिक कठिनाई नहीं आयेगी। राज्य स्तर पर शिक्षा के संयुक्त या अतिरिक्त निदेशक के समकक्ष एक अधिकारी इस कार्यक्रम की देख-भाल करेगा। उसकी सहायता के लिए राज्यस्तरीय समन्वय समिति बनायी जाय तो लाभदायक होगा। केंद्रीय स्तर पर भी हम सम्बद्ध मंत्रालयों की ऐसी समन्वय समिति बना सकते हैं, जिसमें शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय का एक विशेष अधिकारी प्रभारी के रूप में रहे।

अनुक्रमणिका

अ

अनौपचारिक-शिक्षा लगभग सभी पृष्ठों पर
अवधारणा 1, 5, 19, 30, 33, 49, 56, 72, 77
अभिरुचि 1, 21, 22, 29, 32, 102
अभिवर्धन 2, 4, 5
अशिक्षित 5, 12 (2)
अनिवार्य 8, 16, 19, 23, 76, 86, 87
अभिजात 10, 72, 73, 74
अखबार 10
अल्पमत 11
अवाम 11, 12, 25, 30, 46, 56, 77, 82
अपव्यय 14, 28, 94
अभिशप्त 14
अनवरत 15, 19, 26, 30, 52, 65
अवधि सापेक्ष 16
अवकाश 31
अन्योन्याश्रित 31
अनुसन्धान 17, 31, 38, 32
अध्ययनशील 18' 19, 26, 69
अज्ञान 19
अतीत 19, 20, 49, 70
अवामी 19
अध्यापन 21, 25, 26, 61
अव्यवस्था 22
अध्ययनगत 22, 40
अमल 22
अभिव्यक्ति 29
अध्येताओं 39, 59
अभिकरणों 63, 69
अयथार्थवादी 69
अनुमति 65
अभियान 35, 37, 53
अनुशासन 38, 46, 53, 75
अभाव 36
अनुभव 37
असंगठित 41, 48
अस्तित्व 49, 58, 71, 92
अतार्किक 50, 82
अनुच्छेदों 58
अमूल्य 62, 67
अकारक 93
अतिरिक्त व्यय 96
अनवरत शिक्षा 101
अनवरत सम्प्रेषण 101

अनिवार्य राष्ट्र-सेवा 104
अकादमी 70
असमतापूर्ण 71, 76
अविकसित 73, 81, 93
अनुगामी 73, 82
अध्यापकों 73
अविभाजित 73
अराजकता 74
अल्पज्ञानी 76
अध्ययन 79, 80
अध्यापन कार्यक्रम 89
अशिक्षा 91
असमर्थ 92

आ

आत्मनिर्भर 27, 41, 52, 53, 69
आवर्तीशिक्षा 30
आकस्मिक 1, 2, 4, 5, 6, 7, 9, 11, 18, 19, 21, 26, 27, 42, 46, 47
आकस्मिक शिक्षा 28
आजीवन 2, 82
आधुनिक 10, 11, 12, 75
आजीवन प्रक्रिया 16
आबादी 17
आमूल 17, 19, 27, 31
आशुलिपिक शिक्षण 97
आठवें दशक 100
आयु समूह 100
आधुनिकीकरण 46, 51
आत्मचेतना 56, 77
आततायीपन 59
आर्थिक 10, 67, 75, 76, 83, 88, 90, 94
आत्मविश्वास 68
आरम्भिक 70
आंशिक 71
आरम्भ 72
आश्चर्य 74
आकांक्षा 76
आत्माध्ययन 76
आत्माभिरुचि 77
आत्मालोचना 77
आंगनबाड़ी 82

इ

इतिहास 12, 19
इलिच 25, 60
इम्तहान 40, 46

उ

उपभोगवाद 18, 25, 28
उन्नति 19
उद्देश्य 21, 72, 76
उपकरण 22
उपस्थित 24
उपयोग 24
उत्पादन 26
उदारवादी 25
उद्योग 4, 12, 78
उर्ध्व 10
उच्चतर शिक्षा 12
उन्मूलन 17, 20, 41, 71, 89

ए/ऐ

एकाग्र 12, 16
एकल-बिन्दु 28, 92
एकीकृत 29, 39
ऐतिहासिक 1, 76
ऐच्छिक 24, 26, 65, 85
ऐजेन्सियों 57
ऐजेन्टों 60, 62

औ

औपचारिक 1, 2, 9, 12, 14, 15, 19, 24, 27, 28, 29, 30, 45, 47, 49, 60
औद्योगीकरण 4, 14, 32
औद्योगिक 12, 17, 18, 49, 99

क

कलादीर्घा 58
कल्पनाशील 14, 31, 37, 84, 87
कर्मचारी वृत 22, 23
करतब 26, 40, 42
करुणा 33, 67
कट्टरता 20, 22, 37, 92
कर्म/कर्मवादी 28, 57, 73, 80, 81
कर्मक्षेत्रीय अनुभव 104

का

कानून 4
कायाकल्प 12, 19, 34
कार्यक्रम 14, 21, 22, 23 (2) 24, 30, 52, 65, 66(2),68,79, 101,102,28 30, 54, 58,99
कामचलाऊ 5
कारखाना 22
कार्यकर्ता 38, 64
कारगर 17, 21, 18, 45, 62, 68
काश्तकार 49, 62
कार्यकालीन 99
कार्मिक/कारीगर/कामगार 10/26/36, 45, 94

कि/की

किसान 23, 48
क्रियान्वयन 33, 34, 47, 77, 99
क्रियाशीलता 76, 80, 86
कृषि क्षेत्र 62
क्रीड़ा 16

के/कौ

केन्द्रीय 17, 37, 38
केन्द्रबिन्दु 22
केन्द्रीकृत 23, 25
कौशल 51, 76
कौशल स्तर 80

ग

गृहविज्ञान 64
गुणवत्ता 9, 12, 25 (2), 29, 31, 55, 67
गुणात्मक 10, 47, 54, 68, 95
ग्रामीण 11
गैर पेशेवर 22, 23, 101
गैर शिक्षक 22, 26

च

चरित्र 5
चुनौतियां 14, 24, 78
चिन्तन 15, 57
चरम 19
चतुर्दिक 22
चुनावबाजी 74

छ

छात्रा 38

ज

जीवन 9, 25
जनतान्त्रिक 10
जाहिर 15, 25, 56
जिज्ञासुओं 22, 23, 26, 52, 62
जटिल 69
जागृति 71
जागरूक 75
जनसेवा 80
जनसंलग्नता 81

जन-संचार 81
जनशिक्षा अभियान 81
जरूरतमन्द बच्चे 90

त

तोतारटंत 10
तालीम 31, 86, 87
तटस्थता 35, 71, 73
तात्कालिक 37
तफसील 46, 52
तत्व-शिक्षा 50
तालमेल 52
तार्किकता 77
तात्पर्य 78, 90
तरकीब 80
तान्त्रिक 89
तब्दीली 91

द

दकियानूसी 11, 50, 51
दुनिया 17
दायित्व 19
दृष्टिकोण 21, 44, 50, 65, 89
दाता-ग्राहक 22
दमनकारी 25 (2)
दृष्टि 31, 44, 74
दर्जा 40 (2), 67
दाई 48 (2)
दक्षता 57
दरिद्रता 69
दुभाषिये 72
दैनन्दिनी 75
दुर्बलताएं 76, 77
द्वन्द्वों 77
दीक्षित 78
दिलचस्पी 79
दीर्घकालीन 89
दुहरा प्रमोशन 93

ध

धर्म-प्राण 9
धार्मिक 3
धारणा 24
धारणाओं 30
धैर्य 69

न

नेतृत्व 14, 33, 54, 70, 104
निरक्षर, निरक्षरता 49, 72, 79, 87, 15, 47
निष्कर्ष 17, 25
न्याय 77
न्यायप्रियता 77
निष्णात 82
निकाय 81
निर्णय/निर्णायक 87, 82
निदान 88
निर्मम-व्यवस्था 94
निहितार्थ 21, 39
निर्धारितमानदण्ड 25 (2)
नौकरशाही 34
नम्यता 36, 67
निषेधात्मक 42
निर्वाचन 51
नवीकरण 51
नंगे पैर डाक्टर 60
निष्ठा 67
नियोजन 69, 101
नाटकीय 69
नियन्त्रण 71
निरपेक्ष 71
नींव 72

नीतिगत 76

प

परिवेश 2, 51, 87, 10
पारम्परिक 2, 31, 50, 75
पृष्ठभूमि 25
पोषण 3
प्रणाली 10, 37, 72, 81, 92
परिभाषा 10, 20
परम्परागत 11, 44, 47, 71, 95
पुरस्कार 11, 67
परिकल्पित 11
पेशेवर 13, 14, 22, 23, 86, 97, 101
पेशे 43
प्रभावशाली 13
प्रतिनिधित्व 35
पाउलो फ्रेरे 35
प्रतिष्ठाजन 38
पुनःनियोजन 47
प्रौढ़ों 47, 54, 57, 98
प्रतिबद्ध, प्रतिबद्धता 33, 52
पाठ्यक्रम 15, 32, 52, 53, 64, 68, 95
परिवर्तनशील 14
प्रायोगिकी 14, 18
प्रायोगिक 32, 33
पाश्चात्य 15
परिपाटी 15
पदावली 1, 5
प्रावधान 16
प्रभाव 15
प्रभावक्षेत्र 15
प्रक्रिया 15, 78, 83
पूर्णकालिक 15, 16, 22, 44, 45, 89
पंचशील 20
पुस्तकालयों 22, 58
परिश्रम 23
प्रौढ़ शिक्षा 24
प्राथमिक 28, 88
परिकल्पना 40
पेशेगत 10, 32, 41, 52, 54, 56, 83
पद्धतियाँ 33, 45, 81
प्रदत्त 53, 81
प्रशासन 54
परिवार-नियोजन 57, 103
प्रसूति-चिकित्सा 67
प्रशिक्षण 9, 32, 57, 64, 79, 81, 83, 99
प्रतिभा 95
प्रजनन 101
प्रासंगिक 70
परिमाण 23, 71, 72
परिदृश्य 71
पाश्चात्य साहित्य 72
परिचित 72
प्रतिपादन 73
प्रसार 74
प्रस्थापना 75, 79
पशु-मनोविज्ञान 77
पंचवर्षीय 78
प्रौढ़-नागरिक 86

ब

बुद्धिमान 5, 24, 80
बेकारी 17
बुनियादी 19, 36, 56, 76, 87, 89
बाधक 24
बहुविधि 24
बौद्धिक 30

बहुबिन्दु 40, 45
बुनकरों 48
बीज 59
बालबाड़ियों 84
बुनियादी 67
बुद्धिजीवी 67

भ

भूमिका 37
भूपति 49
भ्रष्टाचार 55
भौतिक 66
भागीदारी 77, 81

म

मूलगामी 72, 75
मौखिक प्रसार 7, 45
मैट्रिक पास 83
मध्यवर्ग 86
मण्डित 88
मुद्रा 90
मनोवैज्ञानिक 99
माध्यम 101
महानगरीय 11
माध्यमिक 13, 46, 53, 77
मोहभंग 13, 15
महत्ता 20, 47
मूलभूत 71, 80
मूल्यों की क्षति 24
मानवीय संसाधन 29
मूल्यांकन 36, 65, 69, 77
मुक्ति संगम 50, 72
मुक्तिदायक 50, 72
मनोरंजन 56
मनोरंजनात्मक 58
मार्गदर्शन 65, 57
मानदण्ड 61

य

युद्ध 4
योगदान 11, 17
यूनेस्को 12, 17
योग्यता 24

र

रेडियो 3, 6, 10
रोजगार 5
राजनीति 12, 67
रुचि 15, 53, 57
राष्ट्रीय रिपोर्ट 17
रोग 19, 50
राष्ट्रीय उत्पादन 32
राजनीतिक 32, 71
रचना 36
रीति-रिवाज 39
रिश्ते 43
रेखांकित 53
रचना 55
राष्ट्रीयसमिति 56
रेलवे 59
राष्ट्रीय 62
राज्य सत्ता 66, 71, 72
राजनीतिक साक्षरता 73
राजनीतिक शिक्षा 75, 78
रूपान्तरण 75, 76, 78
रणनीतियां 77
रासायनशास्त्र 76
रीतियाँ 78
राजनीतिक रूपरेखा 86
राष्ट्र निर्माण 101

ल

लोकनाट्य 3, 49

लोक ज्ञान 8
लचीलेपन 36, 84
लक्ष्य 43, 75, 81, 87
लाभान्वित 71
लामबन्दी 81
लम्बी अवधि 98

व

वक्त 32
विरुद्ध 30
विशिष्ट 31, 47
विलगाव 31
विकास 1
विवेक 5
विशेषीकरण 8
विकासशील 10, 68, 88
विश्वव्यापी 12
विश्वयुद्ध 13
विनियोजन 13, 18
वयस्कों 13, 33, 79
वित्तीय 73
विनियोग 14
विश्वविद्यालयों 15, 77, 80
वैकल्पिक 15, 16, 17, 26, 28, 42, 76, 91, 92
विश्व चिन्तन 16
विवेचन 21
विकेन्द्रीकरण 22
विकेन्द्रित 24, 26, 36, 43
व्यवस्था 23, 51, 61, 63, 80
व्यवस्थित 6
व्यथित निरक्षर 24
व्यावसायिक 24, 32, 91
वंचित 25, 90
वैज्ञानिक 32
विषमताएं 32 (8)
विशेषज्ञों 26, 38
विकल्प 26, 41, 42, 54
विज्ञान टेक्नोलोजी 56
व्यायाम 57
व्याख्यान 58, 70
वर्कशाप 59
विशेषज्ञता 63
विधियां 64, 77
व्यग्रता 69
विचार-विमर्श 76
वक्ता 70
व्यवस्था चक्र 71
वर्तमान 72, 74
विषयवस्तु 75
विवाद 80
विश्लेषण 80
व्यापक कार्यक्रम 97, 100
वरिष्ठ छात्रों 97

स

सार्वभौम 20, 31, 76, 90
समायोजन 2, 65
संस्कृति 3
साहित्य 3
संरक्षण 4
संसाधन 4, 22, 25, 46, 66, 58, 68, 92
सांस्कृतिक 5, 19, 31, 48, 54
सुसंस्कृत 5, 29, 30
सैक्स धर्म 10
सर्वांगीण 12, 20
समृद्धि 12, 14, 52, 43
समाज विज्ञानिकों 12
सुविधावाद 14

सशक्त प्रहार 14
समरूपता 14, 50
स्वराध्याय 14, 46
समान्तर 14
सुविधाहीन 15, 53
समता 62, 52
समुचित प्रायोगिकी 26, 31, 71, 70
सौहार्दपूर्ण 26
सकारात्मक 26
सहयोगात्मक 27
असंस्कृत 27
समानान्तर 28, 29, 31
सशक्त उपकरण 28, 68, 69, 81
समाज 29
सम्पदा 30
संग्रहालय 3, 10, 22, 59
समाहित 3
संवाहक 17
समन्वय 18, 36, 57, 65
सत्ताधारी 18
सम्मानजनक 19, 20
सन्दर्भ 19, 31, 64
समतापूर्ण 19, 59, 71
समन्वित 20
सुझाव 20
संकल्प 20
संविधान 20, 56, 98, 60, 56
साक्षरता 20, 24, 45, 55
सामाजिक प्रौढ़ शिक्षा 20,22,31,70
संक्रमणकाल 22, 56, 54
संख्या 20, 55, 58, 59
साम्य वैषम्य 21
संरचना 21
संगठित 22, 78, 88
सक्रिय 22
समकक्ष 22
सुगम 22, 55
सम्भव 22, 23, 68
सम्बद्ध 23
संकेत 24
सरकारी अधिकारी 24
समावेश 24
सुविधागत 25
समूह/समूहों 72, 25
स्वायत्तता 25, 71
संस्थाओं 25, 64, 84
सूक्ति 31
सर्वोत्तम 33, 34, 68, 90
समाजीकरण 35
समाविष्ट 35
संग्राम 36
सर्वश्रेष्ठ 36
सर्वज्ञ 36
सतर्कता 37
स्कूलबद्ध 37
सेतु 39, 65
सफेदपोशों 41
सुरक्षित 41
सृष्टि 63
स्वयंसेवी 63
समग्र उत्पादन 64, 89
सर्वोच्च 67, 78
संचालित 71, 74
सुविधा-वंचित 72
सामंजस्य 72
सन्तोष 72
सम्राट् 73
संयुक्त जनतान्त्रिक 73

समवेत 41
सुरक्षा 43
संवैधानात्मक 45
समस्या 47, 48, 74
समय 47, 54
स्वेच्छा 47, 54, 59
साधन 49
सहभागिता 49, 50
सामूहिक 50
सामन्ती 51, 75, 77
सतर्क 52, 68
संवेदनशील 52, 98
सिफारिश 54
समूहेतर 56
संक्षिप्त पाठ्यक्रम 57,58,65, 71,91
स्वशासन 58
समाप्ति 60
स्वरूप 61
सिद्धान्त 63, 65, 78
संघर्ष 79
स्थानीय 81
संवाद 81
समझदारी 82
सहकारी 82
समर्थ 74
साध्य 75
समूहगत 75
समकालीन 77
स्वतन्त्रता 77
सहिष्णुता 77
सत्यनिष्ठ 71
संसद 77
सत्याग्रह 78
स्वास्थ्य 84
सार्वजनिक शिक्षा 87, 89
सार तत्व 87
सुविकसित 88
सम्पन्न वर्गों 94
संस्था 95
संस्थागत 97

श

शिक्षित 26, 40
शैक्षिक संसाधनों 28
शिक्षार्थी 29, 36 ,55, 56, 59
शैक्षिक नीतियों 30, 35, 53
शैक्षणिक विषयों 30, 43, 75
शिक्षण मार्ग 22
शैक्षिक उद्देश्यों 39
शिक्षा 31
शिक्षा परोपजीविता 31
शिक्षा विज्ञान 32
शोषण 32
शोषणात्मक 35
शोषित 34
शिक्षापरक 36, 90
शारीरिक 41
शासितों 46
शासनहीनता 49
शैक्षिक सुधारों 74
शैक्षिक 104
शक्तियों 75, 76
शासन तन्त्र 76
शाश्वत 77
शंका 77
शिक्षण विधियां 63, 79
शिरकत 53, 80, 81, 103
शिक्षक 81
शोध 81

शहरी 82
शिक्षा के स्तर 59, 69, 82
शिल्प 49
शिक्षक पेशेवर 60
शिक्षण प्रक्रिया 63
शिक्षा की भूमिका 70
शिक्षा की प्रणालियां 70
शिशुशाला 97
शिक्षात्मक उपलब्धियाँ 100
क्षमता 97

श्र

श्रेष्ठता 6, 30, 84
श्रेणीबद्ध 12, 26, 71, 78
श्रम 23, 31, 32, 45
श्रमजीवी 30
श्रमिकों 30
श्रम की तालीम 31
श्रम यान्त्रिक 31
श्रम के आधार 31

ह

हुनर 1, 4, 5, 6, 7, 11, 16, 48, 50, 62, 75 (2), 78
हिंसा 32
हैसियत 39, 40, 41, 71, 72
हस्तशिल्पी 48, 90
हीनता 56, 71
हस्तक्षेप 74 (2)
हिस्सेदारी 76
हाजरी 90

ज्ञ

ज्ञान 16, 23, 56, 75, 78,
ज्ञानार्जन 76

०००